प्रथम अध्याय

'समाज' का संक्षिप्त परिचय

प्र थ म अ ध्याय

समाज का संक्षिप्त परिचय --

` समाज का स्वरूप ` --

समाज मनुष्य के अस्तित्व को बनाये रखने का एक आधार है । इसीकारण मानव-जीवन के प्रत्येक स्तर पर किसी न किसी प्रकार की सामाजिक व्यवस्था का अस्तित्व रहा है । मनुष्य के लिए समाज से अलग होना असम्भव है । वह समाज में पैदा होता है और समाज में ही अपना जीवन व्यतीत करता है । उसकी विभिन्न प्रकार की आवश्यकताओं की पूर्ति समाज में ही संभव है । और समाज में ही व्यक्ति के व्यक्तित्व का विकास होता है ।

अत: प्रश्न यह उठता है कि यह समाज क्या है ? ` समाज ` अत्यंत प्रचलित शब्द है और इसके अर्थ कि परिधि भी बहुत व्यापक है । दैनंदिन व्यवहार में लोग समाज शब्द का प्रयोग समूह तथा भीड के लिए करते हैं जैसे आर्य समाज, ब्राह्मो समाज आदि । परन्तु यह समाज का सामान्य अर्थ है और इसीलिए यह समाजशास्त्र के अंतर्गत मान्य नहीं है । समाजशास्त्रीय दृष्टि से ` समाज ` का एक विशेष अर्थ है और इस विशिष्ट अवधारणा को समझे बिना ` समाज ` को नहीं समझा जा सकता ।

वास्तव में समाज कोई मूर्त संगठन न होकर एक अमूर्त संकल्पना है । अरस्तु का कथन है कि -- ` मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है । ` अर्थात् मनुष्य में सामाजिक-वृत्ति प्रारम्भ से ही पाई जाती है और उसकी यह प्रवृत्ति एक ऐसे

संगठन के निर्माण और पुन: निर्माण करने में व्यक्त होती है, जो उनके व्यवहार का अनेक प्रकार से मार्गदर्शन और नियंत्रण करता है । यह संगठन समाज है, जो मनुष्य की क्रियाओं को स्वतंत्र और सीमित करता है । उनके लिए स्तर निश्चित करता है, जिन्हें वे अपनाते हैं और बनाये रखते हैं ।

मनुष्य - मनुष्यों से पृथक रहकर अपने मानवीय अस्तित्व की रक्षा नहीं कर सकता । वह अपने अस्तित्व की रक्षा के लिए, अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए अपने आस-पास के व्यक्तियों से सम्बन्ध स्थापित करता है । व्यक्तियों के इन सामाजिक सम्बन्धों को समाज कहते हैं । परन्तु व्यक्ति का प्रत्येक सम्बन्ध सामाजिक नहीं होता, जैसे रेल के डिब्बे में बैठे हुए व्यक्ति एक - दूसरे से जब तक परिचित नहीं होते, तब तक वह केवल व्यक्तियों का समूह है पर जैसे ही वह एक - दूसरे से परिचित होते हैं, उनकी पारस्परिक प्रतिज्ञा (Awareness) से जो क्रिया प्रतिक्रिया होती है, उससे सामाजिक सम्बन्ध उत्पन्न होते हैं । एक टंकण-यंत्र और मेज के बीच में भी सम्बन्ध होता है, किन्तु उनका सम्बन्ध सामाजिक नहीं है । क्योंकि उनमें मनोवैज्ञानिक स्थिति का अभाव है । टंकण-यंत्र और मेज एक-दूसरे की उपस्थिति से बुध्दिगम्य अर्थ में परिचित नहीं । पारस्परिक अनुभूति से उनके सम्बन्ध का निश्चय नहीं होता । अत: यह बात स्पष्ट है कि समाज का अस्तित्व वहीं सम्भव है, जहाँ सामाजिक प्राणी एक-दूसरे के साथ इसप्रकार व्यवहार करते हैं, जो उनके पारस्परिक ज्ञान से निर्धारित होते हैं ।

यह सामाजिक सम्बन्ध अनेक प्रकार के होते हैं । व्यक्तियों के यह सम्बन्ध परिवार में जैसे पिता-पुत्र , पति-पत्नी, भाई-बहन आदि रूपों में होता है तथा परिवार के बाहर विभिन्न संस्था, समितियों तथा व्यक्तियों से भी होते हैं । इन सामाजिक सम्बन्धों द्वारा व्यक्ति अपनी आवश्यकताओं की पुर्ति करता है ।

BARR. BALASAHEB KHARDEKAR LIBRARY
SHIVAJI UNIVERSITY, KOLHAPUR

समाज की विभिन्न परिभाषाएँ --

समाज व्यक्तियों का सामूहिक संगठन है । बृहद हिन्दी कोश के

अनुसार -' समाज-मिलना, एकत्र होना, समूह ,संघ, दल, सभा, समिति अधिवेशन, समाज कार्य करनेवालों का समूह, विशेष उद्देश्य पुर्ति के लिए संघटित संस्था है ।[१]' डॉ. कुँवरपालसिंह के शब्दों में --' समाज का अस्तित्व हमेशा किसी सामाजिक संरचना के रूप में ही पाया जाता है । एक ऐसे संगठन के रूप में -- जो निरन्तर विकसित होता रहता है तथा जिसके प्रमुख क्रिया कलाप किसी दैवी शक्तिपर नहीं, बल्कि उत्पादन प्रणाली के विकास पर आधारित होता है ।'[२]

समाज को मानव सम्बन्धों की पूर्ण जटिलता मानते हुए' इन्साईक्लो-पीडिया ऑफ सोशल साइन्स ' ने इसको निम्नानुसार परिभाषित किया है --' समाज प्रतीकात्मक रूप में -- मानव सम्बन्धों की वह कुल जटिलता है जो मनुष्य के जीवन-व्यापनगत क्रियाकलापों द्वारा उत्पन्न होती है ।'[३]

प्रसिध्द समाजशास्त्री मैकाइवर एवं पेज के अनुसार -' समाज कार्य - प्रणालियों और प्रकारों की, अधिकार सत्ता (ऑथॉरिटि) और पारस्परिक सहायता की, अनेक समूहों व श्रेणियों की तथा मानव-व्यवहार के नियंत्रणों अथवा स्वतंत्रताओं की एक व्यवस्था है । इस निरंतर परिवर्तनशील व जटिल व्यवस्था को हम समाज कहते हैं । सामाजिक सम्बन्धों का यह ताना-बाना है और यह सदा बदलता रहता है ।'[४]

---

१ बृहद हिन्दी कोश, - पृ.सं.१४४१,उद्धृत -' प्रेमचंद परम्परा की की कहानियों में पारिवारिक एवं सामाजिक चित्रण - डॉ.राजेन्द्रकुमार शर्मा -- पृ.६७, प्रगति प्रकाशन,प्र.सं.१९८४

२ हिन्दी उपन्यास सामाजिक चेतना - डॉ.कुंवरपाल सिंह - पृ.१७ पांडुलिपि प्रकाशन - प्र.सं.१९७६

३ प्रेमचंद परंपरा की कहानियों में पारिवारिक एवं सामाजिक चित्रण - डॉ.राजेन्द्रकुमार शर्मा, प्रगति प्रकाशन,प्र.सं.१९८४ - पृ.६८

४ ' समाज' मैकाइवर एवं पेज हिन्दी अनुवाद - जी.विश्वेश्वरय्या रत्न प्रकाशन मंदिर, प्र.सं.१९६४ । पृ.६

समाजशास्त्री जिन्सबर्ग ने भी समाज की परिभाषा प्रस्तुत करते हुए लिखा है -- ' समाज व्यक्तियों का एक ऐसा संगठन है, जो निश्चित सम्बन्ध तथा विशिष्ट व्यवहार द्वारा एक दूसरे से बँधे रहते हैं और जिनके द्वारा उन व्यक्तियों को पृथक किया जाता है जो इसप्रकार के सम्बन्धों में भाग नहीं लेते अथवा जो व्यवहार से भिन्न हैं ।'[१]

उपर्युक्त परिभाषाओं से यह स्पष्ट होता है , कि व्यक्ति के सामाजिक वातावरण का निर्माण उसके विभिन्न सामाजिक सम्बन्धों से होता है और व्यक्ति के सामाजिक-सम्बन्ध ही समाज का निर्माण करते हैं । अत: ' समाज को मानव-सम्बन्धों की पूर्ण जटिलता के रूप में परिभाषित किया जा सकता है ।'[२]

समाज का महत्व --

मानव जीवन में समाज का अत्याधिक महत्व है । व्यक्ति समाज में रहकर ही अपने अस्तित्व की रक्षा कर सकता है । इसलिए अरस्तु ने कहा है -- मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है । मनुष्य अपनी सुरक्षा, सुविधा, पालन-पोषाण, शिक्षा, साज-सज्जा, अवसर और समाज द्वारा प्रदत्त अन्य अनेक निश्चित सेवाओं के लिए समाज पर निर्भर है ।

समाज में रहकर ही व्यक्ति के स्वयंभाव का विकास होता है । जीवन में ' स्वयंभाव ' का विकास अत्यंत महत्वपूर्ण होता है । उसी की सहायता से व्यक्ति सांस्कृतिक विशेषाताओं को आत्मसात करता है और उसी के अनुसार आचरण करता है । एक बच्चा अपने परिवार, पडोसी, स्कूल आदि में अपनी

---

१ सामाजिक तथा सांस्कृतिक मानवशास्त्र- ' तिलारा कुँवरसिंह एवं जायसवाल

२ प्रेमचंद साहित्य में व्यक्ति और समाज - डॉ.रक्षापुरी - - पृ.१५ से उद्धृत प्रेमचंद - परंपरा की कहानियों में पारिवारिक एवं सामाजिक चित्रण - डॉ.राजेन्द्रकुमार शर्मा -- पृ.६६ । प्रगति प्रकाशन,प्र.सं.१९८४।

भूमिका को निभाते हुए अन्य व्यक्तियों के व्यवहार का अनुकरण करता हैं । जिससे उसकी स्वयंभावना का विकास होता हैं ।

मनुष्य के जीवन की रक्षा भी समाज में ही हो सकती हैं । समाज व्यवस्था के अभाव में व्यक्ति का जीवन सुरक्षित नहीं रह सकता । सामाजिक नियंत्रण से ही समाज में व्यवस्था बनी रहती हैं । परिवार, धर्म आदि अनेक संस्था, राज्य आदि संगठनों द्वारा समाज मानव की रक्षा करता हैं ।

व्यक्ति के स्वाभाविक प्रवृत्तियों की पूर्ति भी समाज द्वारा ही होती हैं । व्यक्ति के शारीरिक और मानसिक विकास के लिए उसकी मूल प्रवृत्तियों की तृप्ति होना अत्यंत आवश्यक होता हैं । सामाजिक नियमों का पालन करते हुए व्यक्ति अपने मूल प्रवृत्तियों की पूर्ति कर सकता हैं । अपने इस मुलप्रवृत्ति के कारण ही व्यक्ति को समूह में रहना पडता हैं । हेरी एम.जॉनसन के अनुसार -- ` एक समाज की संस्कृति ` सर्वांगव्यापी ` होती हैं .... और वह सामाजिक जीवन की सभी आवश्यक्ताओं के पूर्ति के लिए समूह को योग्य बनाती हैं ।`[१]

मनुष्य की व्यक्तिगत और सामाजिक उन्नति का आधार भी समाज ही हैं । पिढी-दर-पिढी चलती आयी प्रथायें, परम्परा, ज्ञान आदि से समाज में स्थिरता निर्माण होती हैं । और समाज के सदस्य अपनी उन्नति करने के योग्य बनते हैं । अपने बुध्दि के द्वारा वह ज्ञान और शक्ति में वृध्दि कर समाज में सुखी जीवन व्यतीत करते हैं ।

व्यक्ति और समाज का संबंध ---

व्यक्ति और समाज का संबंध अटूट हैं । व्यक्ति के बिना समाज और

---

१ समाजशास्त्र एक विधिवत विवेचन - लेखक - हेरी एम.जॉनसन - हिन्दी अनुवादक - योगेश अटल - पृ.११ । कल्याणी पब्लिशर्स -१९७० ।

समाज के बिना व्यक्ति अधूरा होता है । व्यक्ति ही समाज की मूलभूत इकाई है । व्यक्ति की आवश्यकताओं की पूर्ति तथा उसके व्यक्तित्व का विकास समाज में ही संभव है और समाज का अस्तित्व भी व्यक्ति पर निर्भर है । इस दृष्टि से व्यक्ति और समाज में घनिष्ठ संबंध है ।

समाजशास्त्र के अंतर्गत व्यक्ति और समाज के संबंध की वास्तविक प्रकृति के बारे में विभिन्न मत है । जिसे उन्होंने सिध्दांतों द्वारा प्रस्तुत किया है । इनमें से दो सिध्दांत विशेष उल्लेखनीय है - एक है -- सामाजिक संविदा सिध्दान्त और दूसरा समाज का सावयवी सिध्दांत । सामाजिक संविदा सिध्दान्त के अनुसार प्रारंभ में समाज का अस्तित्व ही नहीं था, बाद में मनुष्यों ने आपसी समझौते से कुछ निश्चित उद्देश्यों की पूर्ति के लिए समाज का निर्माण किया था । इस दृष्टि से समाज एक कृत्रिम अविष्कार है । परन्तु यह सिध्दांत सर्वसंमत नहीं हुआ, क्योंकि यह सिध्दांत इस मान्यता पर आधारित है कि मनुष्य समाज से पृथक है या रह सकता है । मनुष्य समाज में प्रवेश करने से पूर्व व्यक्ति विशेष है और वह अपने इच्छित उद्देश्य की पूर्ति के लिए सामाजिक व्यवस्था की स्थापना करते है । मैकाइवर एवं पेज ने लिखा है -- ' यह मिथ्या मान्यता तभी संभव हो सकती है, जब हम इस तथ्य से आँख मूँद ले कि व्यक्ति और समाज की एक - दूसरे से पृथक नहीं किया जा सकता ।'[१]

समाज के सावयवी सिध्दांत के अनुसार समाज एक शरीर के भाँति है । शरीर की रचना अनेक कोष्ठों को मिलाकर होती है । उसमें अनेक अंग होते है, परन्तु इन अंगों का कोई भी पृथक अस्तित्व शरीर से अलग रूप में नहीं हो सकता । उसीप्रकार व्यक्ति समाज के कोष्ठ है और संघ तथा संस्थायें उसके अंग तथा

---

१ ' समाज ' लेखक - मैकाइवर एवं पेज, हिन्दी अनुवाद - जी. विश्वेश्वरय्या, रतन प्रकाशन मन्दिर, प्र.सं. १९६४, पृ.-४५ ।

व्यवस्थाएँ हैं । अत: समाज से पृथक व्यक्ति का कोई अस्तित्व नहीं हैं । यह सिध्दांत भी अस्वीकृत किया गया क्योंकि इसके अनुसार समाज की तुलना में व्यक्ति कुछ भी नहीं हैं । समाज ही सब कुछ हैं । इस सिध्दांत में इस बात की ओर ध्यान नहीं दिया गया हैं कि मनुष्य चेतनशील हैं । उसके अपने विचार, मस्तिष्क आदि भी हैं । इसलिए वह कार्य करने में भी स्वतन्त्र हैं । व्यक्ति और समाज का सम्बन्ध वह नहीं हैं जो पत्तियों और वृक्षों से अथवा कोष्ठों का शरीर से होता हैं । व्यक्तियों के यथार्थ अस्तित्व में ही समाज की सार्थकता हैं ।

वास्तव में व्यक्ति और समाज एक - दूसरे के पूरक हैं, जिस प्रकार समाज के बिना व्यक्ति का अस्तित्व संभव नहीं , उसी प्रकार व्यक्ति के बिना समाज का अस्तित्व भी असंभव हैं ।[1] व्यक्ति अपनी अन्तर्गुहा में बंदी सामाजिक सत्यों से अप्रभावित कोई स्वतंत्र सत्ता नहीं हैं और न अकेले उसकी कोई सार्थकता ही हैं । वह सामाजिक जीवन के प्रवाह में बहता हुआ, उसकी समूची चेतना को झेलता हुआ गतिशील सत्ता हैं, अपनी जगह स्थित नदी का द्विप नहीं हैं ।[1] व्यक्तिके संघर्षों, हितों, महत्वाकांक्षाओं एवं उनकी आशाओं तथा आशंकाओं के प्रकाश में ही हम समाज के किसी लक्ष्य को निर्धारित कर सकते हैं । इसके विपरित समाज का अंग होने के नाते ही व्यक्ति हितों, महत्वकांक्षाओं एवं लक्ष्यों से संपन्न हैं । इसीलिए मार्क्स ने लिखा हैं -- ' व्यक्ति एक सामाजिक प्राणी हैं । जिसका जीवन सामुदायिक जीवन के रूप में चाहे पुष्ट न हो, फिर भी वह सामाजिक जीवन की अभिव्यक्ति और पुष्टि ही हैं ।'[2] व्यक्ति की मानव प्रकृति समाज में रहकर ही उन्नत हो सकती हैं व्यक्ति और समाज का संबंध

---

१ हिन्दी उपन्यास - एक अन्तर्यात्रा - डॉ.रामदशरथ मिश्र - पृ.११२ - राजकमल प्रकाशन - प्र.सं.१९६८ ।

२ हिन्दी उपन्यास सामाजिक चेतना - डॉ.कुँवरपालसिंह,पांडुलिपि - प्रकाशन, प्र.सं.१९७६ - पृ.१७ ।

एकांगी नहीं हैं, अपितु एक-दूसरे के ज्ञान के लिए दोनों आवश्यक हैं । डॉ.सुरेश सिन्हा लिखते हैं --' जब आज समाज और व्यक्ति के संबंध की बात की जाती है, तो उसका अभिप्राय यह नहीं होता कि यह सदस्य और समुदाय का संबंध है, वरन् यह अंश और अंशी का ही संबंध है, जो लोग यह स्वीकारते हैं, कि व्यक्ति समाज की या समाज व्यक्ति की विवश स्वीकृति है, वे प्राय: भूल जाते हैं कि समाज व्यक्ति निरपेक्ष नहीं हो सकता और न व्यक्ति ही समाज निरपेक्ष होता है । वे दोनों दायित्व और स्वातंत्र्य से संबंधित मानव-मूल्यों को लेकर ही विकसित होते हैं और एक - दूसरे से सम्बध्द होते हुए भी एक-दूसरे के ऊपर आरोपित होने की चेष्टा से विरत रहते हैं, तभी दोनों के लिए समग्रता की स्थिति उत्पन्न हो सकती है ।'[1] अर्थात् व्यक्ति और समाज का संबंध अन्योन्याश्रित है ।

समाज के विभिन्न अंग ---

(' समाज ' कोई अखण्ड व्यवस्था नहीं है ।) इसके अनेक अंग होते हैं । दूसरे शब्दों में अनेक इकाइयों के योगदान से समाज का निर्माण होता है । (यह) इकाइयाँ सामाजिक समूह, संघ, समुदाय और संस्थाएँ आदि हैं । इन्हीं इकाइयों में समाज का कार्य बँटा रहता है । अत: समाज को संपूर्ण रूप से जानने के लिए इन उपविभागों का अध्ययन जरूरी है ।

मैकाइवर एवं पेज ने सामाजिक समूह के अर्थ को स्पष्ट करते हुए लिखा है --' समूह से हमारा अभिप्राय सामाजिक प्राणियों के ऐसे समुच्चय से है,

---

१ हिन्दी उपन्यास, - सुरेश सिन्हा - लोकभारती प्रकाशन - द्वि.सं. १९७२ - पृ. ११

जिसमें परस्पर विशिष्ट सामाजिक संबंध बन जाते हैं ।[1]' अर्थात् समूह व्यक्तियों का संकलन मात्र न होकर एक ऐसा समूह होता है, जिसमें विभिन्न व्यक्तियों के बीच निश्चित संबंध पाये जाते हैं, तथा जिसमें व्यक्ति समूह के प्रति जागरूक होते हैं । मनुष्य समूह बनाकर रहनेवाला प्राणी है । उसका सम्पूर्ण जीवन विविध सामाजिक समूहों के सम्पर्क में व्यतीत होता है । सामाजिक समूह के सभी व्यक्तियों में परस्पर अन्त: क्रिया जारी रहती है, जो समूह को गतिशील बना देती है । अर्थपूर्ण अन्त:क्रिया से ही सामाजिक समूहों की निर्मिती होती है । सामाजिक समूहों का विस्तार भी व्यापक होता है । सामाजिक समूहों के अनेक प्रकार और रूप होते हैं । उदा.परिवार, ग्राम, राजकीय पक्ष, कामगार पक्ष आदि इनमें से कुछ ऐच्छिक होते हैं तो कुछ अनिवार्य ।

' समुदाय ' शब्द का प्रयोग हम किसी बस्ती या एक गाँव, एक शहर, एक कबीला अथवा एक राष्ट्र के लिए करते हैं । मॉरिश गिन्सबर्ग के अनुसार -- ' समुदाय को एक निश्चित भू-भाग पर रहनेवाली उस समस्त जनसंख्या के रूप में वर्णित किया जा सकता है जो उनके जीवन को नियंत्रित करनेवाले नियमों की सामान्य व्यवस्था से बंधी हुई होती है ।'[2] मैकाइवर एवं पेज ने समुदाय की परिभाषा करते हुए लिखा है -- ' किसी छोटे या बडे समूह के सदस्य जब साथ-साथ इसप्रकार रहते हैं कि वे किसी विशेष प्रकार के हित में ही भागीदार न होकर सामान्य जीवन की आधारभूत स्थितियों में भाग लेते हों, तो ऐसे समूह को समुदाय कहा जाता है ।'[3] समुदाय का कोई विशेष उद्देश्य नहीं होता,

---

१ ' समाज ' लेखक - मैकाइवर एवं पेज, हिन्दी अनु.जी.विश्वेश्वरय्या - रतन प्र.मं,प्र.सं.६४ - पृ.१६

२ ' प्रारम्भिक समाजशास्त्र ' - डॉ.एस.एम.कपूर, चित्रा प्रकाशन - प्र.सं.१९७९ - पृ.१४५

३ ' समाज ' मैकाइवर एवं पेज, अनु. विश्वेश्वरय्या - पृ.९ रतन प्रकाशन मंदिर - प्रथम संस्करण - १९६४ ।

यही कारण है, कि उसकी स्थापना जानबुझकर नहीं की जाती वरन् स्वत: ही होती है । समुदाय मनुष्य को समस्त सुविधा देता है, जिनके द्वारा मनुष्य अपनी समस्त आवश्यक्ताओं को पूर्ण करता है । समुदाय की धारणा का महत्व बहुत कुछ इस बात में है कि वह सामाजिक संलग्नता और भौगोलिक क्षेत्र के मध्यवर्ती सम्बन्ध पर बल देता है । अर्थात् समुदाय का अपने निश्चित भूभाग से घनिष्ठ संबंध होता है । यही कारण है कि समुदाय स्थायी होता है, अत: उसके भीतर एक मनुष्य का सम्पूर्ण जीवन व्यतीत किया जा सकता है । ग्राम ,शहर,प्रांत,देश समुदाय की संज्ञा प्राप्त कर सकते हैं । इन समुदायों की सीमायें उत्तरोत्तर बढाने की ओर मनुष्य की प्रवृत्ति रहती है । क्योंकि बडे समुदाय में मनुष्य को अवसर, स्थिरता, अर्थव्यवस्था और एक अधिक संपन्न एवं विभिन्न संस्कृति की निरंतर प्रेरणा मिलती है तथा शान्ति और सुरक्षा भी प्राप्त होती है ।

समुदाय की तरह समाज में अनेक ` संघ ` होते हैं । ` संघ ` वह समूह है जो किसी एक हित अथवा हितों के समूह की सामान्य रुप से पूर्ति के लिए संगठित हुआ है ।`[1]` क्रीडा मण्डल ,साहित्य सभा, वक्तृत्वोत्तेजक मंडल आदि समावेश ` संघ ` में होता है । संघ समुदाय के अंतर्गत एक संगठन है । जिसकी स्थापना विशिष्ट उद्देश्यों के पुर्ति के लिए की जाती है । संघ के निश्चित उद्देश्य होते हैं, उसका सदस्यत्व ऐच्छिक होता है । कुछ निश्चित हितों की पुर्ति के उद्देश्य को लेकर ही व्यक्ति का संघों से सम्बन्ध होता है। परिणामत: एक ही समुदाय के अंतर्गत अनेक संघ हो सकते हैं और व्यक्ति भी अनेक संघों का सदस्य हो सकता है ।

संघों की तरह समाज में संस्थाओं का भी महत्वपूर्ण स्थान है । मेरिल और एल्ड्रेज नामक अमरिकी समाजशास्त्रों ने ` सामाजिक संस्था ` की

---

१ ` समाज ` - मैकाइवर एवं पेज, - हिंदी अनुवाद - जी. विश्वेश्वरय्या - पृ.१३, रतन प्रकाशन मंदिर , प्र.सं. १९६४ ।

परिभाषा करते हुए लिखा है - ` मूलभूत कार्यों की पूर्ति के लिए मानवों के आचरणों का संघटित रूप प्रस्थापित करनेवाले सामाजिक साचे ही सामाजिक संस्थाएँ हैं ।` मैकाइवर एवं पेज ने ` सामूहिक क्रिया की विशिष्ट प्रकृति से युक्त कार्यप्रणाली के अधिष्ठित रूप को संस्था कहा है ।`[१] संस्था ऐसे नियमों का योग है जिनकी स्वीकृति व मान्यता एक विशाल जनसमूह द्वारा होती है । संस्था का जन्म प्रयोजन पूर्ति के लिए समाज के सदस्यों की सहमति से होता है । संस्था के प्रति जनसमूह की विशेष आस्था होती है । यही कारण है कि संस्था दीर्घजीवी या स्थायी होती है । समाज में विचार, जन-रीति, प्रथा, रूढ़ि आदि चरणों से गुजरते हुए संस्था का जन्म होता है । विभिन्न प्रकार के उद्देश्यों के लिए अनेक संस्थाओं का निर्माण होता है जैसे प्रजोत्पादन, शिशुसंगोपन और शिशु-संवर्धन के उद्देश्य से ` परिवार ` ,उपजीविका प्राप्त करने के लिए ` अर्थ ` और समूह के लिए ` राज्य ` आदि यह सभी संस्थाएँ मानव-जीवन का सर्वांगिण विकास करने में सहायक होती हैं ।

परिवार संस्था --

समाज में परिवार ही अत्याधिक महत्वपूर्ण एवं प्राथमिक संस्था है, जिसके ऊपर समाज की संपूर्ण संरचना आधारित है । समाज के समूचे जीवन को परिवार असंख्य रीतियों से प्रभावित करता है । वह एक ऐसी आधारभूत संस्था है, जहाँ मनुष्य के जीवन की विविध आवश्यकताओं की पूर्ति होती है । यही कारण है कि परिवार विश्व की प्रत्येक संस्कृतियों में पाया जाता है । प्राचीन काल से आज तक विभिन्न रूपों में इसका अस्तित्व रहा है । देश, काल तथा

---

१ ` समाज ` लेखक - मैकाइवर एवं पेज, - हिन्दी अनुवाद - जी. विश्वेश्वरैया - प्र.सं. १९६४ - पृ. १७ - रतन प्रकाशन मंदिर ।

संस्कृति के अनुसार परिवार के स्वरूप में भेद पाया जाता है ।

प्रत्येक व्यक्ति किसी न किसी परिवार संस्था का सदस्य होता है । व्यक्ति के व्यक्तित्व की स्थापना में परिवार का योगदान महत्वपूर्ण रहता है । जब शिशु परिवार में जन्म लेता है, तो वह पूर्णतया माता-पिता पर निर्भर होता है । माता-पिता के स्नेहपूर्ण सुरक्षा में ही उसकी परवरिश होती है । परिवार व्यक्ति को मानसिक और शारीरिक सुरक्षा प्रदान करता है । सामाजिक अनुकूलन का सबसे महत्वपूर्ण तथा प्राथमिक पाठशाला कहा जाता है । जिसकी शिक्षा के आधारपर व्यक्ति भविष्य में परिवार से बाहर की दुनिया के साथ भी अनुकूलन करने में सफल होता है ।

विभिन्न संस्कृतियों में परिवार का स्वरूप भी भिन्न भिन्न रहता है । परिवार की मूल बातों में समानता होने के बावजूद भी उसके स्वरूप में अंतर होता है । इसलिए परिवार की निश्चित परिभाषा नहीं दी जा सकती । मैकाइवर एवं पेज के अनुसार[१] परिवार लैंगिक सम्बन्धों से परिभाषित एक समूह है जो संतानोत्पत्ति व उसके पालन पोषण में पर्याप्त सुनिश्चित एवं सहिष्णु है ।" अर्थात् परिवार एक ऐसा सीमित एवं स्थायी समूह है जो यौन सम्बन्धों पर आधारित है, जिसमें बच्चों का जन्म तथा परवरिश होती है । इलियट और मेरिल के अनुसार --" परिवार को एक जीवित सामाजिक ईकाई के रूप में परिभाषित किया जा सकता है, जो कि पति-पत्नी तथा बच्चों द्वारा निर्मित होते है । परिवार को एक सामाजिक संस्था के रूप में भी समझा जा सकता है - एक सामाजिक मान्यताप्राप्त संगठन जिसके द्वारा मनुष्य की कुछ निश्चित आवश्यकताएँ

---

१ "समाज" लेखक - मैकाइवर एवं पेज - अनुवादक - जी. विश्वेश्वरय्या - प्र.सं. १९६४ - पृ. २४३ - रत्न- प्रकाशन मन्दिर ।

पूरा होता है ।[1] प्रसिध्द समाजशास्त्री डी.एन.मजूमदार ने भारतीय अवधारणाओं के परिप्रेक्ष्य में परिवार की बहुत ही सार्थक परिभाषा प्रस्तुत की है -- ' परिवार व्यक्तियों का एक समूह है जो कि एक छत के नीचे निवास करता है और जो मूल और रक्त सम्बन्धों से जुडे हुए है तथा स्थान, रुचि और कृतज्ञता की अन्योन्याश्रितता के आधारपर जाति का जागरूकता रखते हैं ।'[2]

समाजशास्त्रीयों द्वारा परिवार का वर्गीकरण विभिन्न प्रकार से किया गया है । यथा - पितृसत्ताक-मातृसत्ताक परिवार, एकविवाह-बहुविवाह-बहुपति परिवार, संयुक्त-एकांगी परिवार । भारतीय समाज में प्रारम्भ से ही पितृसत्ताक, संयुक्त-परिवार प्रणाली की परम्परा का प्रचलन रहा है । संयुक्त परिवार प्रणाली हिन्दू समाज की एक विशेषता देन है । संयुक्त परिवार एक ऐसा संगठन होता था जिसमें आर्थिक, सामाजिक तथा सांस्कृतिक आदि कार्य सम्पन्न किये जाते थे । संयुक्त परिवार को परिभाषित करते हुए डॉ. इरावती कर्वे ने कहा है -- ' संयुक्त परिवार उन व्यक्तियों का समूह है, जो एक ही छत के नीचे निवास करते हैं, जिनकी एक ही रसोई है और जो सामान्य पूजा में भाग लेते हैं तथा रक्त द्वारा एक - दूसरे से सम्बन्धित होते हैं ।'[3] आई.पी.देसाई के शब्दों में ' हम उस परिवार को संयुक्त-परिवार कहते हैं, जिसमें एकाकी परिवार से अधिक पीढियों के सदस्य (अर्थात् तीन या अधिक पीढियों के सदस्य) सम्मिलित हों तथा उनके सदस्य एक-दूसरे सम्पत्ति, आय तथा पारस्परिक अधिकारों के द्वारा

---

१ ' सामाजिक एवं सांस्कृतिक मानवशास्त्र ' - तिलारा कुँवरसिंह एवं -- - जायसवाल - पृ.१०४ - प्रकाशन केन्द्र -१९८२

२ भारतीय संस्कृति के उपादान - डी.एन.मुजमदार - उद्धृत - ' स्वातंत्र्योत्तर हिन्दी उपन्यास साहित्य की समाजशास्त्रीय पृष्ठभूमि - डॉ. स्वर्णलता - पृ.५० ।

३ सामाजिक एवं सांस्कृतिक मानव्यशास्त्र - तिलाश कुँवरसिंह एव इरावती कर्वे - जायसवाल - पृ.१२२ । प्रकाशन केन्द्र - १९८२ ।

सम्बन्धित हों ।[1] अत: संयुक्त परिवार की यह विशेषताएँ रहती हैं, कि इसमें अनेक सदस्य हुआ करते हैं, परिवार का एक मुखिया होता है, सामान्य निवास एवं खान-पान रहता है, सामान्य सामाजिक एवं धार्मिक कर्तव्य रहता है, संयुक्त परिवार की सबसे महत्वपूर्ण विशेषता यह है कि परिवार की सम्पत्ति सम्मिलित होती है ।

कालांतर से बदलती परिस्थितियों के साथ परिवार संस्था में भी परिवर्तन आता रहा । औद्योगिकरण, यातायात के साधनों में उन्नत्ति, जनसंख्या का आधिक्य, नागरीकरण, पाश्चात्य सभ्यता और व्यक्तिवाद का प्रभाव, शिक्षा, नारी जागृती और आंदोलन आदि अनेक कारणों से परम्परागत संयुक्त परिवार प्रणाली में विघटन होने लगा और उसकी जगह नये एकांगी परिवारों की स्थापना होने लगी ।

धर्म - संस्था --

धर्म सामाजिक जीवन में एक महत्वपूर्ण स्थान रखता है । समाजशास्त्रीयों ने धर्म को मूलत: एक सामाजिक प्रक्रिया माना है । (इसीलिए यह कहा जाता है कि धर्म सामुहिक भावना का प्रकटीकरण है) प्रसिध्द समाजशास्त्री हॅरि एम. जॉनसन के अनुसार[2] धर्म अतिप्राकृतिक प्राणियों, शक्तियों, स्थानों तथा अन्य वस्तुओं से सम्बन्धित विश्वासों एवं रीतियों की एक सुसंगत प्रणाली है, ऐसी प्रणाली जिसका उसके अनुयायियों के व्यवहार और कल्याण पर प्रभाव पडता है । ऐसे प्रभाव जिन्हें अनुयायीगण अपने व्यक्तिगत और सामूहिक जीवन में विभिन्न अंशों में और विभिन्न तरीको से स्वीकार करते हैं ।[3]

---

१ प्रेमचंद - परंपरा की कहानियों में पारिवारिक एवं सामाजिक चित्रण - डॉ. राजेन्द्रकुमार शर्मा, प्रगति प्रकाशन, प्र.सं. १९८४ - पृ. ६३ ।

२ समाजशास्त्र एक विधिवत विवेचन - हेरी एम. जॉनसन, हिन्दी अनुवाद - योगेश अटल, कल्याणी पब्लिशर्स - १९७० - पृ. ३८७ ।

अर्थात मानव और अलौकिक शक्ति के बीच योग्य सम्पर्क स्थापित करने के लिए 'धर्म-संस्था' की रचना हुई । धर्म सामाजिक जीवन का एक महत्वपूर्ण अंग है, जो मानव व्यवहार को नियंत्रित करता है । धर्म से मनुष्य की आत्मशुध्दि होती है और आत्मशुध्दि ही मनुष्य को मनोबल प्रदान कर सकती है । धर्म का प्रमुख लक्षण मानवता की सेवा है । मानव जीवन को पूर्ण एवं सुखी बनाना धर्म का सामाजिक लक्ष्य है इसीलिए कहा जाता है कि धर्म विश्वकल्याण का पोषाक है । धर्म में अलौकिक शक्तियों को प्रसन्न करने के लिए पूजा-पाठ तथा धार्मिक विधि भी आवश्यक माने जाते है । कुछ धर्मों में धार्मिक विधि व्यक्ति खुद कर सकता है, तो कुछ में उसके लिए मध्यस्थों की आवश्यक्ता होती है । धर्म के अन्दर अनेक संस्कार तथा उत्सवों का भी महत्व है । अहिंसा, परोपकार त्याग व प्रेम , सहानुभूति आदि नैतिक भावनाओं का समावेश पाया जाता है । जो मनुष्य की आत्मिक उन्नत्ति में सहायक सिध्द होता है । मेकेन्जी के अनुसार धर्म का सम्बन्ध मानवीय पक्ष के सर्वोत्तम ध्येय सत्यं, शिवं तथा सुन्दरम् की साधना से है । धर्म वह शक्ति है जो मनुष्य की पशु प्रवृत्तियों को इसप्रकार परिचलित करती है कि वे विध्वंसक न होकर रचनात्मक हो । साधारणतया मनुष्य जिस धर्मसंस्था में जन्म लेता है, उसी धर्म संस्था में वह अपना सम्पूर्ण जीवन व्यतीत करता है । धर्म समाज की एक महत्वपूर्ण आवश्यक्ता पूर्ण करता है वह यह है, समाज में एकता बनाये रखना । धार्मिक विचार, धार्मिक कृत्य और संस्कार व्यक्तियों को परस्पर नजदिक लाने में सहायता देते है । धर्म सामाजिक जीवन को पवित्रता, सरलता, नैतिकता एवं आध्यात्मिकता प्रदान करता है और इसीकारण व्यक्ति परोपकारी, सहनशील व त्यागी बन जाता है ।

आर्थिक संस्थाएँ ---

सुचारु रूप से मानव-जीवन - यापन करने के लिए आर्थिक - संस्थाएँ परम आवश्यक मानी गई हैं । किंग्स्ले डेविस के अनुसार आर्थिक संस्थाओं से तात्पर्य उन प्रमुख विचारों मान्यताओं एवं परिस्थितियों से है जो प्रत्येक समाज में सीमित वस्तुओं की स्थिति निर्धारण करती हैं ।"[1] अर्थात् जो वस्तुएँ दुर्लभ होती हैं उन्हें आर्थिक मुल्य प्राप्त होता है । इसलिए प्रत्येक समाज में दुर्लभ वस्तुओं का उत्पादन, विनिमय, विभाजन, वितरण, उपभोग आदि के बारे में जो मूलभूत कल्पनाएँ, मूल्य और नियम होते हैं उन्हें आर्थिक संस्था कहा जाता है । इसप्रकार आर्थिक संस्थाओं का उद्देश्य मनुष्य की भौतिक आवश्यक्ताओं की पुर्ति से होता है । आर्थिक संस्थाएँ समाज को काफी प्रभावित करती हैं । आर्थिक आवश्यक्ताएँ सार्वजनीन और सार्वलौकिक चीजें हैं और मानव जीवन का बहुत बडा हिस्सा इन आवश्यक्ताओं को जुटाने में व्यतित होता है ।

सम्पत्ति से अभिप्राय उन सभी भौतिक अथवा अन्य वस्तुओं से है, जिन पर व्यक्तियों का अधिकार होता है, ऐसी वस्तु बेची जा सकती है, गिरवी रखी जा सकती है, दान में दी जा सकती है या उसका विनियोग चाहे जैसे किया जा सकता है । सम्पत्ति किसी न किसी रूप में प्रत्येक युग में तथा समाज में पायी जाती है । सम्पत्ति निजी अथवा सार्वजनिक हो सकती है, हमारे भारतीय आदर्श के अनुसार धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष को चार पुरुषार्थों के रूप में ग्रहण किया गया है । परन्तु आज-कल अर्थ को ही प्राधान्य प्राप्त हुआ है, क्योंकि वह जीवन के सभी क्षेत्रों से सम्बध्द होता है । अर्थ मनुष्य को केवल

---

१ प्रारम्भिक समाजशास्त्र - डॉ. एस. एम. कपूर - चित्रा प्रकाशन - पंचम सं., १९७९ - पृ. १०५ ।

केन्द्रिय सुख ही प्रदान नहीं करता बल्कि उसको कष्ट और दुख में संरक्षण भी प्रदान करता है । ` अर्थ ` जहाँ मनुष्य को सुख-सुविधाएँ प्रदान करता है, वही वह युध्द तथा संघर्षों को उकसाने में भी सहायता करता है । सम्पत्ति के अधिकारों को एक व्यक्ति से दूसरे व्यक्ति को हस्तान्तरित किया जाता है, अत: वह कभी-कभी कानुनी फैसलों का विषाय बनता है । व्यक्ति का सामाजिक दर्जा भी उसकी व्यक्तिगत सम्पत्ति पर आधृत रहता है । आर्थिक संस्थाओं के भले-बूरे अनेक परिणाम होते है । आज की नयी अर्थ व्यवस्था में अर्थ को अत्याधिक महत्व दिया जाने के कारण अनेक सामाजिक समस्यायें निर्माण हुई है ।

समाज और संस्कृति ---

मानव समाज में संस्कृति का अत्याधिक महत्वपूर्ण स्थान है । किसी भी समाज की उन्नत्ति के लिए उसकी संस्कृति का योगदान महत्वपूर्ण रहता है । संस्कृति का समाज से अभिन्न संबंध है । इसीलिए हेरी एम.जॉनसन ने समाज की चार विशेषाताओं में उसकी सर्वांगव्यापी ` संस्कृति ` को भी एक महत्वपूर्ण विशेषाता माना है । प्रत्येक समाज की अपनी भिन्न संस्कृति होती है । और इस सांस्कृतिक भिन्नता के कारण ही एक समूह अन्य समूहों से पृथक तथा एक समाज अन्य समाजों से पृथक होता है । संस्कृति तथा सांस्कृतिक परिवर्तन समाज और सामाजिक परिवर्तन को प्रभावित करते है । अत: समाज को समझाने के लिए संस्कृति का अध्ययन उचित सिध्द होगा । ` संस्कृति ` की सबसे प्रसिध्द परिभाषा एडवर्ड टायलर की है, इनके अनुसार ` संस्कृति ` वह जटिल पूर्णता है जिसमें ज्ञान, विश्वास, आचार-विचार, विधि (कानुन) रीति-रिवाज और मानव द्वारा समाज सदस्य रुप में क्षमताएँ समाहित होती है ।` [1] मैकाइवर एवं पेज

---

१ ` समाजशास्त्र एक विधिवत विवेचन ` - लेखक - हॅरी एम.जॉनसन - हिंदी अनुवाद - योगेश अटल, कल्याणी पब्लिशर्स -१९७० - पृ.

के अनुसार[1] हमारे जीवन क्रमों, चिन्तन पध्दतियों, दैनिक सम्पर्कों, कला, साहित्य, धर्म, मनोरंजन, विनोद आदि में संस्कृति हमारी प्रकृति की ही अभिव्यक्ति है।[1] सभी समाजों की संस्कृतियों में भौतिक और सामाजिक विश्व के संबंध में अपार ज्ञान निहित रहता है। और इस ज्ञान की जानकारी प्रत्येक पीढ़ी को विधिवत दी जाती है। अर्थात् संस्कृति एक सामाजिक विरासत है जो पीढ़ी दर पीढ़ी संक्रमित होती रहती है। संस्कृति दो प्रकार की होती है -- भौतिक संस्कृति और अभौतिक संस्कृति। भौतिक संस्कृति उन अविष्कारों का नाम है, जिनको मनुष्य ने अपनी आवश्यक्ता के कारण जन्म दिया है। मोटर, रेलगाडी, हवाई जहाज आदि भौतिक तत्व भौतिक संस्कृति के ही प्रतिक है। इसके विपरित मानव जीवन को संगठित करने के लिए मनुष्य ने अनेकों रीति-रिवाजों, प्रथाओं, रुढियों आदि को जन्म दिया है, ये सभी अमूर्त तत्व अभौतिक संस्कृति के रुप है।

'संस्कृति' मानव के जीवनमूल्यों से संबंध्द रहती है। परिस्थिति तथा समयानुसार मानव मूल्य बदलते रहते है, इसलिए संस्कृति का बाह्य-रुप युग के साथ बदलता दिखाई देता है, परन्तु अपने कुछ शाश्वत तत्वों के कारण उसकी आत्मा नहीं बदलती। संस्कृति मानव समाज को अंतिम आदर्श तक पहुँचानेवाली सीढ़ी है। संस्कृति का एक अपना पृथक अनुशासन होता है, इसी के आधारपर व्यक्ति का सामाजिक तथा व्यक्तिगत जीवन संचालित होता है। संस्कृति मानव के पारस्परिक आक्रमण का नियंत्रण करती है। जिससे मनुष्य की पशु-प्रवृत्तियाँ नियंत्रित होकर वह अधिकाधिक मानवीय बनता है। व्यक्ति के जन्म से लेकर मृत्यु तक संस्कृति उस पर किसी न किसी रुप से प्रभाव डालती रहती है। संस्कृति व्यक्ति के समाजिकरण में सहायक होती है और संस्कृति ही मनुष्य को सत्-असत्-उचित-अनुचित, अच्छाई-बुराई का ज्ञान करा कर उसके व्यक्तित्व की उन्नति कराती है।

---

१ 'समाज' लेखक - मैकाइवर एवं पेज - हिंदी अनुवाद - - जी. विश्वेश्वरैय्या - रतन प्रकाशन मन्दिर - प्र.सं. १९६४- पृ. ४६९।

समाज के विधि - संस्कार --

समाज में विधि तथा संस्कार भी महत्वपूर्ण होते हैं । औपचारिक नियमन के अंतर्गत समाज के सदस्यों पर कुछ विधि संस्कार भी किये जाते हैं । प्रत्येक सामाजिक व्यवस्था तथा उसके भीतर का प्रत्येक उप-समाज अंशत: विधि-संस्कार द्वारा प्रेरित होता है । विधि की परिभाषा करते हुए मैकाइवर एवं पेज ने लिखा है -- ` विधि से हमारा तात्पर्य उस ताल्बध्द कार्यवाही से है, जो वैसे ही अवसरों पर बिना किसी भेद के दुहराई जाती है और परंपरागत कार्यों को नियंत्रित करने में एक ही लक्ष्य के लिए होती है ।`[१] विधि आदत या अभ्यास से भिन्न होती है, क्योंकि उसके साथ सही ढंग व अनिवार्यता की भावना होती है । विधि वैयक्तिक भी होती है और सामुहिक भी । सभी समाजों में व्यक्ति के जन्म, विवाह, मृत्यु के जीवन वृत्त की ताल्बध्द घटनाओं से संबंधित अनेक विधियों का प्रचलन होता है । विधि से अवसर को प्रधानता व पवित्रता प्राप्त हो जाती है । धार्मिक क्रिया-कलाप तथा विशिष्ट प्रतिष्ठा व श्रध्दा की मॉग करनेवाले उन सार्वजनिक व नीजि उत्सवों में विधि महत्वपूर्ण होते हैं ।

संस्कार -- ` संस्कार का अर्थ औपचारिक व प्रतिष्ठित प्रकृति की ऐसी स्थापित कार्यवाही है जिसका उद्देश्य किसी सन्दर्भ या अवसर की महत्ता को अंकित करना होता है ।`[२] विधि संस्कार से व्यापक होती है, संस्कार के अंतर्गत विधि भी आ जाती है । हमारे समाज में ` संस्कार ` शब्द अत्यंत प्राचीन काल से अनेक अर्थों में प्रयुक्त होते आया है । संस्कृत साहित्य में ` संस्कार ` शब्द का प्रयोग शिक्षा, संस्कृति, प्रशिक्षण, सौजन्य, शुध्दि-क्रिया, छाप, विचार, भावना, धारणा आदि अनेक अर्थों में किया गया है । डॉ. राजबलि पाण्डेय के अनुसार --

---

१ ` समाज ` लेखक - मैकाइवर एवं पेज, अनुवादक- जी. विश्वेश्वरय्या - रतन प्रकाशन मन्दिर, प्र.सं. १९६४ - पृ. १६०

२ - वही - - पृ. १६१

' धार्मिक विधि - विधान अथवा कृत्य जो आन्तरिक तथा आत्मिक सौन्दर्य का बाह्य तथादृश्य प्रतीक माना जाता है, ' संस्कार ' कहलाता है ।[१] ' प्राचीन काल में व्यक्ति के आत्मिक तथा शारीरिक संवर्धन का प्रयत्न किया जाता था, जिससे व्यक्ति सभी अन्तर्बाह्य-दोषों से मुक्त हो कर उन्नत्ति कर सके । संस्कारों का उद्देश्य बताते हुए अग्निपुराण में कहा है - ' संस्कारों के द्वारा संस्कृत (आत्मिक उन्नत्ति प्राप्त) व्यक्ति भुक्ति (भोग) और मुक्ति दोनों पाता है । सभी (शारीरिक) रोगों से मुक्त होकर मनुष्य देवता (श्रेष्ठ व्यक्ति) के समान वृध्दि प्राप्त करता है ।[२] ' अत: संस्कारों द्वारा मनुष्य को पूर्ण बनाने का प्रयत्न था । संस्कारों का यह भी एक उपयोग था कि भारतीय समाज ने व्यक्तिगत और सामाजिक जीवन की दृष्टि से जो आदर्श निर्माण किये थे उन आदर्शों को व्यक्ति के मन पर संस्कारित किया जा सकता था, जिससे यह संस्कार समाज व्यवस्था के अन्य अंगों के साथ-साथ राष्ट्र निर्माण के प्रबल साधन के रूप में भी थे । संस्कार अनेक प्रकार के बताये गये हैं । नामकरण, अन्नप्राशन, कर्णछेदन, उपनयन, विवाह आदि संस्कार विशेषत: महत्वपूर्ण हैं, जिनमें जीवन का संपूर्ण उल्लास और मांगलिक कृत्यों की पावनता आकर सिमट जाती है ।

---

१ ' हिन्दू संस्कार ' - डॉ. राजबली पाण्डेय - चौखम्बा, विद्याभवन, वाराणसी ।

२ समाज और राज्य - भारतीय विचार - डॉ. सुरेन्द्रनाथ मित्तल - हिन्दुस्तानी एकेडेमी - प्र.सं. १९६७ - पृ. १३४ ।

"सुश्री उषा प्रियम्वदा का संक्षिप्त जीवन परिचय"

साहित्यकार के जीवन तथा व्यक्तित्व का प्रभाव उसकी साहित्यकृतियों में परिलक्षित होता है। अत: किसी भी साहित्यकारके के कृतियों का अध्ययन करते समय उस साहित्यकार का परिचय जान लेना आवश्यक है। इस तथ्य को ध्यान में रखते हुए मैं भी यह उचित समझती हूँ कि सुश्री उषा प्रियम्वदाजी के कथात्मक साहित्य का परिचय देने से पूर्व उनका संक्षिप्त परिचय दूँ।

सुश्री उषा प्रियम्वदा का जन्म २४ दिसंबर १९३१ में कानपूर में हुआ। बचपन से ही उषाजी को साहित्य के प्रति रुचि थी। अपने स्कूली दिनों में ही उन्होंने शरतचंद्र के समूचे साहित्य को पढ डाला था, साथ ही गुरु, प्रकाशचंद्र गुप्त, उपेंद्रनाथ "अश्क" "निर्गुण" आदि साहित्यकारों की कहानियाँ भी बडे चाव से पढ ली थीं। "कहानी" के संपादक श्रीपतरायजी का उनके परिवार से घनिष्ठ सम्बन्ध था। उन्हीं के पथ प्रदर्शन से प्रियम्वदाजी को साहित्य सृजन की प्रेरणा मिलती रही।

उषा प्रियम्वदाजी की पहली कहानी "लालचूनर" है जो "सरिता" पत्रिका में छपी थी। उसके बादके तीन सालों में उन्होंने अनेक कहानियाँ लिखी। परन्तु उन प्रारंभिक कहानियों में उतनी गहराई नहीं थी। अत: अपनी उन लिखी गई कहानियों के प्रति उनके मन में एक असंतोष उभर आया और उन्होंने यह जान लिया कि ऐसी कहानियाँ लिखने में कोई चॅलेंज नहीं है।

उसी समय उन्होंने इलाहाबाद विश्वविद्यालय में अंग्रेजी साहित्य में एम.ए.की. उपाधि प्राप्त की और दिल्ली आकर लेडी श्रीराम कॉलेज में अंग्रेजी पढाना शुरु किया। उन्हीं दिनों में उन्होंने "छुट्टी का दिन", जिंदगी और गुलाब के फूल", "पूर्ति" "मोहबन्ध" आदि कहानियों की रचना की।

"जिन्दगी और गुलाब के फूल" कहानी संग्रह के बाद फिर उनके साहित्य सृजन का तीसरा दौर आरंभ हुआ। और एक बार फिर उनकी भावभूमि बदली, अनुभवों और अनुभूतियों का धरातल बदला - "कोई नहीं", "झूठा दर्पण", "एक कोई दूसरा" और "पचपन खम्भे लाल दीवारें" उन दिनों की कृतियाँ है। उन वर्षों की अंतिम कहानी "वापसी" है। प्रियम्वदाजी की यह कहानी बहुचर्चित हो गयी। इस कहानी में उन्होंने परिवर्तित जीवन मूल्यों का अत्यंत मार्मिक चित्रण किया है। इस कहानी को नयी कहानियों में से सर्वश्रेष्ठ कहानी का पुरस्कार भी मिला था।

उसके बाद उन्होंने फुलब्राइट पर अमरीकी साहित्य का अध्ययन करने के लिए अमरीका प्रस्थान किया और वहीं भाषाविद श्री. किम विल्सन से विवाह किया। आगे चलकर उन्होंने अमरीका के इण्डियाना विश्वविद्यालय में आधुनिक अमरीकी साहित्य पर अनुसन्धान किया। आज कल वे अमरीका में ही विस्कासिन विश्वविद्यालय में हिन्दी विभागाध्यक्ष के पद पर कार्य कर रही है।

सुश्री उषा प्रियम्वदाजी ने अमरीका जाने के पश्चात् प्रथम वर्ष में ही वहाँ के नये परिवेश, नयी पुस्तकें और नये विचारों से बहुत कुछ सीख लिया। अमरीका में एक अन्य भारतीय लेखक ए.के. रामानुजन के उनका परिचय अमरीकी कवियों और लेखकों से कराया। उस वर्ष की पहली कहानी "वनवास" है। जो कि एक संकुचित दायरे में रहनेवाली भारतीय नारी के सांस्कृतिक संघर्ष की कहानी है। बाद में उन्होंने अंग्रेजी में भी कुछ कहानियाँ, कविताएँ लिखी, परन्तु उनके मन में अपनी मातृभाषा के प्रति होनेवाले लगाव ने उन्हें फिर हिन्दी की ओर खींच लिया और उन्हें यह विश्वास हो गया - "कि हिन्दी ही मेरी भाषा है। और यदि कुछ वर्थव्हाइल मुझसे लिखा जायेगा, तो हिन्दी में ही"[1]।

---

१. "भूमिका" "मेरी प्रिय कहानियाँ" उषा प्रियम्वदा पृ. ५ राजपाल एण्ड सन्स, प्र. सं. १९७४.

उसके बाद उन्होंने "ट्रिप" "कितना बडा झूठ", "सम्बन्ध" "प्रतिध्वनियाँ, "मछलियाँ" आदि अनेक कहानियों तथा "रुकोगी नही,.. राधिका !' और "शेषयात्रा" आदि दो उपन्यासों की रचना की। इनमें से अधिकांश कृतियों का सृजन विदेशी पार्श्वभूमि पर किया है। जिनमें विदेशी वातावरण सजीव हो उठा है।

यह एक शाश्वत सत्य माना जाता है, कि साहित्यकार के व्यक्तित्व तथा विचारों का प्रभाव उसकी साहित्यिक कृतियों पर भी होता है। उषाजी भी इसके लिए अपवाद नहीं है। उनके समूचे साहित्य में भी जो एक कटेपन तथा अजनबीपन की भावना दृष्टिगोचर होती है, वह उनके व्यक्तित्व और परिवेश का ही प्रभाव है । इस बात को स्पष्ट करते हुए वे कहती है - "मेरे लिए चाहे पात्र विदेश में रहते हों, या भारत के किसी छोटे शहर में, चाहे वह समाज द्वारा थोपा गया सुषमा का अकेलापन हो या अपने-आप ग्रहण किया हुआ राधिका का अजनबीपन, प्रामाणिक है। और लेखन के लिए उपयुक्त मेरे विचार में विदेशी वातावरण ने इस अकेलेपन और अजनबीपन को मुखर किया है, वैसे मै स्वयं एक बहुत "प्राइवेट परसन हूँ, और गहरे मित्र बनाने में मुझे समय लगता है, शायद मेरे पात्रों के अकेलेपन में, मेरी इसी दृष्टी और प्रवृत्ति का प्रभाव आ जाता है"।[1]

कोई भी व्यक्ति अपनी कलात्मक सम्भावनाओं को उसी परिवेश मे विकसित कर सकता है। जो उसकी मानसिक दृष्टी से अनुकूल हो तथा उसे प्रिय हो। साहित्यकार के लिए तो यह बात और भी अधिक महत्वपूर्ण है, क्यों कि साहित्यकार अपने परिवेश से ही किसी विषय को ग्रहण कर उसे कलात्मक अभिव्यक्ति देता है। प्रियम्वदाजीने भारत तथा अमरीका दोनों जगह रहेते हुए साहित्य सृजन किया है। परन्तु उन्हें लेखन के लिए भारतीय

---

१. भूमिका - "मेरी प्रिय कहानियाँ" उषा प्रियम्वदा पृ. १० राजपाल एण्ड सन्स, प्र. सं. १९७४.

परिवेश जितना अनुकूल लगा, उतना अमरीकी परिवेश नहीं। वे कहती हैं – "मुझे अक्सर ऐसा लगता है, कि जाने के बाद मुझे दो साल के बाद भारत लौट आना चाहिए था, उस समय जब मैंने यह निर्णय लिया था कि मैं अमरिका में रहूँ और वहाँ पढाऊँ ... तब मैंने अपना स्वरूप इतना नहीं पहचाना था, साहित्यकार मेरे अन्दर इतना प्रबल है कि बीस साल तक न खाने के बाद भी नहीं मर पायेगा, वहाँ का माहौल मेरे साहित्यकार को इतना सक्रिय नहीं कर पाया।"[१]

इसका महत्वपूर्ण कारण यह है, कि उषा प्रियम्वदाजी का मन मूलत: भारतीय है। किसी भी व्यक्ति के लिए अपनी जन्मभूमि के प्रति लगाव होना स्वाभाविक है। और प्रियम्वदाजी चूँकि अत्यंत संवेदनशील नारी है। अत: उनके मन का अपनी जन्मभूमि भारत तथा भारतीय बंधुओं की ओर ही हमेशा झुकाव रहा है। यही कारण है कि अमरिका में रहते हुए भी उन्होंने वहाँ की [विदेशी] औरत को अपने साहित्य का विषय न बनाकर वहाँ की भारतीय नारी की ही उलझन, उसके संक्रमण और मन को ही अपने साहित्य का विषय बनाकर काफी लिख डाला। इस संदर्भ में वह कहती है – ... मैं उनकी [विदेशियों की] जिन्दगी से बहुत घुली – मिली हूँ, मगर मुझे लगता है, कि वहाँ जो उखड़े हुए लोग हैं ... जो भारतीय यहाँ से वहाँ आरोपित कर दिये गये है .. उसको मेरा मन ज्यादा बाँधता है ... मेरी दृष्टी उसको ज्यादा पकड़ती है"[२]

---

१. "उषा प्रियंवदा से अवधनारायण मुदगल की लंबी बातचित" "सारिका" [प्रथम पाक्षिक] १५ जुलाई १९८४ पृष्ठ ५६.

२. "उषा प्रियंवदा से अवधनारायण मुदगल की लंबी बातचीत "सारिका" [प्रथम पाक्षिक] १५ जुलाई १९८४ पृ. ५६.

अत: हम कह सकते है, कि अपने देश से दूर विदेश में रहते हुए भी प्रियम्वदाजी की भाव-भावनायें भारत तथा भारतीयता के प्रति प्रामाणिक रही है। अपने संदर्भ से कटकर दूर विदेश में रहते हुए भी वह अपने लेखन और भाषा के माध्यम से भारत के साथ जुडी हुई है। उषा प्रियम्वदाजी के व्यक्तित्व की यह झलक तथा उसके भारतीय और पाश्चात्य संस्कारों के सामंजस्य को हम उनके कथात्मक साहित्य में अच्छी प्रकार देख सकते है।

सुश्री उषा प्रियम्वदाजी का साहित्यिक परिचय

सुश्री उषा प्रियम्वदा आधुनिक युग की लेखिकाओं में अपना महत्वपुर्ण स्थान रखती है। उन्होंने अपने समूचे साहित्य में नारी जीवन के विविध रंगों और विविध आयामों का उद्घाटन किया है। साथ ही आधुनिक जीवन की ऊब, घुटन, संत्रास, छटपटाहट, अजनबीपन और अकेलेपन की स्थिति को सृजनात्मक स्तर पर अंकित किया है।

सुश्री उषा प्रियम्वदा मूलत: भारतीय लेखिका है, परन्तु अमरीका में वास्तव्य करने से वह पश्चिमी सभ्यता से भी परिचित है। पश्चिम और पुर्व दोनों सभ्यताओं के बीच रहकर लेखिका ने अपने कुछ निजी निर्णय स्वीकारें है। उनकी अधिकांश कृतियों में नितांत आधुनिकता के बावजूद भी एक आदर्शवाद दृष्टिगोचर होता है। इसका मुलकारण उषाजी के भारतीय संस्कार है। वे कहती है - "भारत की स्वतंत्रता के पीछे जो आदर्शवाद था, वह - हमारी पढाई लिखाई में, हमारे वातावरण में था, इसलिए हमारी दृष्टि अपने ऊपर, इंसान के ऊपर अधिक थी, उसमें यह था, कि जो कुछ लिख जाये अपने यथार्थ, अपनी सच्चाई पर लिखा जाये, कम से कम चौंका देनेवाली बात।[1]

---

१. "उषा प्रियम्वदा से अवधनारायण मुदगल की लंबी बातचित" "सारिका" [प्रथम पक्ष] १ से १५ जुलाई १९८४ पृ. ५५

SHIVAJI UNIVERSITY LIBRARY KOLHAPUR

उन्होंने आधुनिकता को भी बडी ईमानदारी से स्वीकारा है। तथा वर्तमान जीवन की प्रामाणिक और निर्भीक अनुभूतियों को पहली बार साहस और तटस्थता के साथ चित्रित किया है। "उषा ने कृतिकार की ईमानदारी के साथ जीवनानुभव की प्रामाणिकता को कथा में उतारते हुए वर्जित सत्यों को भी जिस साहस लेकिन सहजता के साथ प्रस्तुत किया है उसका सबूत "चांदनी में बर्फ पर", "मछलियाँ", "पिघलती हुई बर्फ", "सागर पार का संगीत" तो है ही, उनके सद्य: प्रकाशित उपन्यास "रुकोगी नहीं, ... राधिका! में भी है। वे बिना किसी दावपेंच के [कभी-कभी फ्लॅश बॅक की मदद से] कहानी को बडी अलौकी सचाई से सामने रख देती है, उसमें बनता जैसे कुछ भी नहीं है। विवेकपूर्ण व्यवहार के साथ गहरी करुणा से मानवीय नियति को वे रेखांकित करती है।"[1]

प्रियम्वदाजी की रचनायें शिल्प की दृष्टी से अधिक महत्व नहीं रखतीं परन्तु भावाभिव्यक्ति की दृष्टी से उनकी रचनायें अत्यंत मार्मिक बन पडी हैं। इसी तथ्य को स्पष्ट करते हुए अवस्थीजी ने लिखा है - उनकी कृतियों में तकनीक गौण है, लेकिन अनुभूत इतना खरा और पैना उतरता है, कि तकनीक की बात उठाना जरुरी नहीं लगता, बल्कि यह आशंका होती है कि लेखिका से इससे भिन्न कोई आशा करना शायद उसकी संवेदनाओं, ताजगी और सचाई को धुंधला कर दे।[2]

---

१. नई कहानी, प्रकृती और पाठ, सुरेन्द्र पृष्ठ ३१-३२ उद्धृत- हिन्दी के लघु उपन्यास, घनश्याम "मधुप" पृ. १७७ राधाकृष्ण प्रकाशन प्र. सं. १९७१.

२. विवेक के रंग, देवीशंकर अवस्थी पृ. ३७८, प्र.सं. १८६५ भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन.

आधुनिक साहित्यपर अस्तित्ववाद तथा व्यक्तिवाद का अत्याधिक प्रभाव दिखाई देता है। उषा प्रियम्वदाजीने भी नारी को समझने और समझाने का प्रयास इसी अस्तित्ववाद के आधारपर किया है। अस्तित्ववाद की मूल प्रवृतियाँ अजनबीपन तथा अलगाव की भावना उनके समूचे साहित्य में विद्यमान है। उनके व्दारा विदेशी पृष्ठभूमिपर लिखे गये साहित्य में तो यह अकेलापन और अजनबीपन अधिक मुखर हो उठा है। अपने इस प्रवृत्ति को स्पष्ट करते हुए उन्होंने लिखा है - "जहाँ मैं रहती हूँ, उस नगर में चार सौ तेइस भारतीय है। संगीत, भोजन, हिन्दी फिल्में, चाट-पार्टियाँ में निमंत्रण मिलते है, और प्राय: सम्मिलित भी होती हूँ, पर उस सबके बावजूद भी जैसे उनके जीवन की परिधि पर हूँ। कभी मध्य में नहीं। भारत लौटने पर भी ऐसा ही लगता है, इसीलिए यह अलगाव शायद मेरे व्यक्तित्व और लेखन का अभिन्न अंग बनता जा रहा है"[१]।

"उषा प्रियम्वदा व्यक्ति की स्वतंत्रता और निजता में अधिक विश्वास करती है। वे मानती है, कि मानवमूल्यों में विकास की दृष्टी से मनुष्य का स्वतंत्र विकास अनिवार्य है। उसकी इच्छाओं पर कोई बन्धन न हो"[२]।

अर्थात् प्रियम्वदाजी व्यक्तिवादी विचारधारा से प्रभावित है, जिसके परिणाम स्वरूप उनके साहित्य में व्यक्ति की कुंठा, पीडा, संत्रास का ही अधिक चित्रण दिखाई देता है। "सुश्री उषा प्रियम्वदा ने जो कथाचित्र प्रस्तुत किये हैं। उनमें व्यक्ति की कुंठाओ, पीडाओं, अतृप्त आकांक्षाओ आदि को ही दृष्टी में रखा गया है। नारी होने पर भी सुख और स्वस्थ गार्हस्थ जीवन के चित्र उनकी लेखनी से अंकित नहीं हुए, यह

---

१. "मेरी सृजन प्रक्रिया", उषा प्रियम्वदा, ज्ञानोदय अगस्त १९६९ पृ. ४३ अदृष्त "अस्तित्ववाद और नई कहानी" लालचन्द गुप्त "मंगल" पृ. १४८ शोधप्रबंध प्रकाशन १९७५.

२. हिन्दी उपन्यास, सुरेश सिन्हा पृ. ३६१, लोकभारती प्रकाशन-इला. सं. १९७२.

✓ आश्चर्य की बात है। इसका कारण यह है कि वर्तमान युग में वैयक्तिक भावनाओं को सर्वोपरि महत्त्व देने की जो लहर सी चल पडी है, वे इसमें बह गई है। फिर भी वर्तमान जीवन की समस्याओं को चित्रित करने में उन्हें पर्याप्त सफलता प्राप्त हुई है"[१]।

प्राय: नारी लेखिकाओं पर भावुकता का आरोप लगाया जाता है। प्रियम्वदाजी की रचनायें इस भावुकता का सक्रिय विरोध प्रस्तुत करती है। कलात्मक सन्तुलन, चेतना के गहरे स्तरों को वाणी देने का प्रयत्न और बौध्दिक ईमानदारी उन्हें अपने समकालीनों में विशिष्ट बनाती है। कुँवर नारायण के मतानुसार - "किसी भी स्तरपर जीती हुई वे विवेक की तरफदार है, मानो लेखिका इस तथ्य के प्रति बराबर सचते हैं। कि विकासशील जीवन मुल्य मनुष्य की इच्छाक्षमता से अधिक उसकी चिंतन क्षमता पर निर्भर करते है"[२]

प्रियम्वदाजी ने अपनी रचनाओं के माध्यम से विशेषत: मध्यमवर्गीय नारी की भाव-भावनाओं को वाणी देने का प्रयास किया है। प्राचीन परम्परायें तथा आधुनिक जीवन मुल्यों के बीच त्रिशंकु की भाँति लटकती नारी की मानसिक छटपटाहट, वेदना और पीड़ा को उन्होंने गहरी अनुभूति के साथ अभिव्यक्त किया है। साथ ही बदलते पारिवारिक मुल्य तथा बदलते स्त्री-पुरुष के संदर्भ में नारी की विविध समस्याओं को उन्होंने विस्तृत रूप से अंकित तो किया है। परन्तु उसके समाधान का कोई सुझाव उन्होंने प्रस्तुत नहीं किया है, और ना ही उसके किसी हल की ओर संकेत किया है।

---

१. "स्वातंत्र्योत्तर कथा - लेखिकाएँ उर्मिला गुप्ता पृ. १५५ राधाकृष्ण प्रकाशन प्र. सं. १९६७.

२. विवेक के रंग, देवीशंकर अवस्थी पृ. ३७८ भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन १९८५.

फिर भी उन्होंने समाज की महत्वपूर्ण इकाइयाँ - व्यक्ति, परिवार, स्त्री-पुरुष सम्बन्ध आदि का परिवर्तित सामाजिक मान्यताओं के संदर्भ में जिस साहस और स्वाभाविकता से चित्रण किया है, वह नि:संदेह प्रशंसनीय हैं। उनके कथात्मक साहित्य का संक्षिप्त परिचय निम्नलिखित प्रकार से है -

श्रीमती उषा प्रियम्वदाजी के कथात्मक साहित्य का संक्षिप्त परिचय

प्रस्तुत लघु शोध प्रबंध के लिए उषा प्रियंवदाजी के जिन कृतियों को आधार, बनाया है, वे निम्नलिखित है -

उपन्यास : १] "पचपन खम्भे लाल दीवारें"
२] "रुकोगी नहीं ... राधिका"
३] "शेषयात्रा"

कहानी संग्रह : १] "जिंदगी और गुलाब के फूल"
२] "एक कोई दूसरा"
३] "कितना बड़ा झूठ"

"पचपन खम्भे लाल दीवारें "

"पचपन खम्भे लाल दीवारें" उषा प्रियम्वदा का पहला उपन्यास है, जिसमें भारतीय नारी की सामाजिक, आर्थिक विवशताओं से जन्मी मानसिक स्थिति का मार्मिक चित्रण हुआ है। यह एक मनोवैज्ञानिक सामाजिक उपन्यास है। लेखिका ने इस उपन्यास में एक प्रौढ अविवाहित युवती के मानसिक अन्तर्द्वन्द्वको बडी भावुकता से चित्रित किया है।

उपन्यास की नायिका "सुषमा" एक निम्न मध्यम वर्गीय परिवार की शिक्षित युवती है। उसके माता-पिता अपनी आर्थिक विवशताओं के

कारण उसका विवाह नहीं कर सकते। अत: अपनी पढाई के बाद वह एक कॉलेज में अध्यापिका की हैसियत से नौकरी करने लगती है। उसके पिता अस्वस्थ और पक्षाघात से पीडित रहने से परिवार का निर्वाह करने में असमर्थ है। परिवार की सबसे बडी संतान होने के कारण, परिवार की तथा अपने छोटे भाई बहनों के जिम्मेदारी का बोझ सुषमा को ही उठाना पडता है। सुषमा अपने परिवार के उत्तरदायित्व के कारण मजबूर है, लेकिन उसका परिवार उसके प्रति अपने उत्तरदायित्व को नहीं निभा रहा। उसकी माँ अपनी बहन कृष्णा से कहती है। ... "तुम जानो कृष्णा, सुषमा की शादी तो अब हमारे बस की बात नहीं, इतना पढ लिख गई, अच्छी नौकरी है। और अब तो क्या कहते है, होस्टल में वार्डन भी बननेवाली है। बंगलो और चपरासी अलग से मिलेगा बताओ ! इनके जोड का लडका मिलना तो मुश्किलसे ही है[1]।

सुषमा काफी समझदार और आज्ञाकारिणी लडकी होने के कारण वह अपने माता-पिता की विवशताओं को समझ लेती है। अपने कर्तव्यों की पूर्ति के लिए वह अपनी स्वाभाविक आवश्यकता ओं की भी उपेक्षा करती है। और उदासीनतापूर्वक एक सुनेपन में जीना सीख जाती है, परन्तु उसकी नारी-सुलभ आकांक्षाएँ उसके अंतर्मन में एक गाँठ बनकर रह जाती है - " वह गाँठ जो सबसे छिपाकर सुषमा पालती आयी है, वह एक तरुण किशोरी का स्वप्न था, जो कि 'अनुकूल जलवायु न पा कुम्हला गया" [2]

तभी संयोगवश उसका परिचय नील से हो जाता है। सुषमा के जीवन में जब-तक नील नहीं आया था, तब तक तटस्थ भाव से जीवन

---

१. "पचपन खम्भे लाल दीवारें" - उषा प्रियम्वदा पृष्ठ १० राजकमल प्रकाशन, चतुर्थ सं. १९८४.

२. वहीं पृ. १४

जी रही थी, परन्तु नील के आनेपर उसके मन में वे कामनाएँ, आशाएँ, इच्छाएँ जागती हैं, जो अभी तक उसके अवचेतन में दबी हुई थी। नील के प्रेम के कारण अपने जीवन की एकरसतासे उकताई सुष्मा प्रसन्न और आत्मविभोर हो जाती है। नील के संस्पर्श से उसके सूने-रिक्त हृदय में आत्मविश्वास, उल्लास और प्रसन्नता का सागर लहराने लगता है।

परन्तु सुष्मा का यह सुख कुछ ही दिनों में समाप्त हो जाता है। क्यों कि उसकी सहाध्यापिकायें उसके नील से होनेवाले सम्बन्ध को लेकर उसकी काफी बदनामी करती हैं, इतना ही नहीं बल्कि प्रिन्सिपल से उसकी रिपोर्ट कर उसे अनैतिक आचरण के लिए उत्तरदायी ठहराती है, जिससे सुष्मा के आगे उसके नौकरी के अस्तित्व का प्रश्न उपस्थित होता है। अत: उसे नील से होनेवाले अपने प्रेम सम्बन्ध समाप्त करने पडते हैं। सुष्मा अपने व्यक्तिगत सुख के लिए अपने परिवार को मँझधार में नहीं छोडना चाहती। इसीलिए वह नील के विवाह प्रस्ताव को अस्वीकार करती हैं। और फिर पूर्ववत जीवन जीने लगती हैं।

इस उपन्यास में सुष्मा के मानसिक अन्तर्द्वन्द्व - कर्तव्य और भावना के संघर्ष, आशान्ति अतृप्ति आदि मनोभावों का परिस्थिति सापेक्ष मनोवैज्ञानिक चित्र अंकित करने में लेखिका विशेष सफल रही हैं।

"सुष्मा और नील का प्रेम जिन कारणों से असफल रह जाता हैं, उनके पीछे कहीं मनुष्य की संकल्प शक्ति और बुध्दिमत्ता की पराजय झलकती हैं। उस प्रेम की एक सपाट सफलता यह होती कि दोनों का विवाह हो जाता, उतनी ही सपाट असफलता यह रहीं, कि दोनों अलग हो गये, बिना किसी ऐसे कारण के जिसकी अनिवार्यता अधिक संगत होती।"[१]

---

१. "विवेक के रंग" - "देवीशंकर अवस्थी" पृ.३८० भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन १९८५.

फिर भी सुषमा और नील के प्रेम की असफलता अस्वाभाविक नहीं लगती, क्यों कि सुषमा जिस प्रकार की लडकी थी, उसके लिए अपनी जिम्मेदारी को टालना सम्भव नहीं था। आधुनिक युग की नारी होते हुए भी अपने परम्परागत संस्कारों के कारण ही सुषमा अपने व्यक्तिगत सुख को त्याग अपनी समस्त कामनाओं को कर्तव्य की बेदीपर अर्पण कर देती है।

इस उपन्यास में -"आधुनिक युग की आर्थिक विषमताओं में दो पीढ़ीयों का स्वाभाविक चित्र लेखिका ने प्रस्तुत किया है। एक पीढी है जो "शिप्टिंग ऑफ वर्डन" से ही अपने उत्तरदायित्व को दूसरे के कंधे पर डालकर चुप बैठ जाती है, और दूसरी वह है जो अर्थ पिशाच से ही नही सामाजिक मर्यादाओं तथा अपने आप से ही जुझती हैं। पहली का प्रतिनिधित्व सुषमा की माँ करती हैं और दूसरी का स्वयं सुषमा।"[1]

लेखिका ने इस उपन्यास में सुषमा की सामाजिक आर्थिक विवशताओं से जन्मी मानसिक स्थिति का बडा ही मार्मिक चित्रण किया हैं। छात्रावास के पचपन खम्भे और लाल दीवारें उन परिस्थितियों का प्रतिक हैं, जिनमें रहकर सुषमा को ऊब तथा घुटन का तीखा एहसास होता है, फिर भी वह इससे मुक्त नहीं हो पाती क्यों कि उसकी संस्कारबध्दता के कारण उन परिस्थितीयों के बीच जीना ही उसकी अन्तिम नियति हैं। "परिस्थिति प्रताडित, विवाह-सुख से वंचित कुमारी के अन्तर्द्वन्द्व का चित्रण इस कृति का एकमात्र लक्ष्य हैं, जिसमें उषाजी को पर्याप्त सफलता प्राप्त हुई है। नारी होने के नाते उन्होंने नायिका के मनोभावों को गहराई से परखा है और अत्यन्त कुशलता से उन्हें कथासुत्र में गूँथकर प्रस्तुत किया है।"[2]

---

१. हिन्दी लघु उपन्यास, घनश्याम "मधुप" पृ.१७९ राधाकृष्ण प्रकाशन १९७१
२. स्वातंत्र्योत्तर कथा लेखिकाएँ,- उर्मिला गुप्ता पृ.३२९ राधाकृष्ण - प्रकाशन १९६७.

यह उपन्यास भारतीय मध्यवर्गीय समाज का प्रतिनिधित्व करता है, अत: इसमें मध्यवर्गीय समाज के पारिवारिक जीवन तथा उसकी आर्थिक समस्याओं का यथार्थ चित्रण हुआ हैं। यह "उपन्यास मध्यवर्गीय समाज के यथार्थ और नव-विकसित जीवन मूल्यों की सशक्त अभिव्यक्ति को उजागर करता हैं। नवीन परिस्थितीयों से निर्मित स्थितियों में जाने - अनजाने नारी को जो भीतर ही भीतर घुटना पडता है, उसकी अन्तर्व्यथा का बडा सूक्ष्म वा मार्मिक चित्रण प्रस्तुत उपन्यास में उपलब्ध होता है।"

"रुकोगी नही," ... राधिका"

"रुकोगी नही, .. राधिका" उपन्यास में उषा प्रियम्वदाजीने भारतीय नारी के मानसिक द्वंद्व का यथार्थ चित्रण किया है। यह उपन्यास एक सवाल है, जो पूरब और पश्चिम, भारत और अमरीका राधिका से पूछते है, और सपनों और संस्कारों में जीती हुई नारी अपने व्यक्तिगत प्यार और भावना के स्तर पर जिन्दगी को समझना चाहती है।

उपन्यास की नायिका "राधिका" उच्च मध्यवर्गीय परिवार की उच्च शिक्षित युवती है। राधिका के पिता प्रख्यात कला समालोचक हैं। राधिका के बचपन में ही उसकी माँ का स्वर्गवास हुआ हैं। अत: पिता के अत्याधिक संपर्क के कारण राधिका के मन में उनके प्रति असाधारण लगाव रहता है। परन्तु तभी एक घटना से वह स्तम्भित हो जाती है। उसके पिता विधा नामक एक सुशिक्षित अध्यापिका से दूसरा विवाह कर लेते हैं। जिससे राधिका के मन में स्थापित आदर्श पिता की छबी खण्डित होती है। पिता के विवाह के पश्चात् उसे अपने घर की स्थिती असहनीय लगने लगती है और किसी तरह वह अपने घर से मुक्ति पाना चाहती है। उसके जीवन

---

१. साठोत्तरी हिन्दी उपन्यास, डा.पारुकान्त देसाई पृ १३१ सुर्य प्रकाशन प्र. सं. १९८४.

के इसी संघर्षमयी क्षण में उसका परिचय एक विदेशी पत्रकार डैनियल पिटरसन के साथ हो जाता है। अपने पिता को मानसिक आघात देने के लिए राधिका डैन के साथ अमरीका चली जाती हैं। किन्तु एक साल की अवधि में ही उन दोनों के सम्बन्धों में तनाव पैदा हो जाता है। इसीलिए राधिका उससे अलग स्वतंत्र होकर रहने लगती है। उन दिनों राधिका के विचारों में परिपक्वता आती है। मिसेज होमर के घर अकेले रहते समय वह जान जाती है, कि अकेलापन कितना भयावह होता है। वह सोचती है कि उसने अपने पापा के साथ बड़ा अन्याय किया है। उनसे सम्पूर्ण एकाग्रता की कामना करके उसने भूल की थी। पाश्चात्य परिवेश से अपने को न जोड पाने के कारण तथा अपने देश और परिवार के लगाव से वह स्वदेश लौट आती है ।

राधिका के स्वदेशागमन के पश्चात जब वह अपने पिता से मिलने के लिए अपने घर जाती हैं, तो वह स्वयं को वहाँ असंगत और "मिसफिट" अनुभव करती है। इसीलिए वह अपने परिवार को छोडकर दिल्ली में आकर स्वतंत्र रूप से रहने लगती है। इसी समय राधिका के जीवन में दो युवा पुरुष आते है - अक्षय और मनीशा। अक्षय एक शालीन और उदार युवक है, उसकी भद्रता और शिष्टता से राधिका अत्याधिक प्रभावित है, और उसके प्रति राधिका के मन में कुछ झुकाव भी रहता है, क्योंकि पश्चिम के जीवन तथा डैन के अनुभव से अब वह स्वच्छन्दी यायावरी "प्ले बॉय" टाईप के व्यक्तित्वों से घबडाती है। जीवन में सुरक्षा और स्थायित्व की प्राप्ति के लिए उसे अक्षय अधिक अनुकूल जान पडता है - "अक्षय भला है उसके अलिंगन में मादक रोमांच भले ही न हो, पर वह पत्नी को हर प्रकार की सुविधा देगा, वह बच्चों के लिए अच्छा पिता बनेगा।"[१] ।

---

१. "रुकोगी नहीं, ... राधिका ।" उषा प्रियम्वदा पृ. ९१ अक्षर प्रकाशन, पाँचवा सं. १९८०.

परन्तु अक्षय जहाँ एक ओर राधिका के मोहक व्यक्तित्व से उसके प्रति आकर्षित है, वहाँ उसके अतीत के प्रति शंकाशील भी है। उसके परम्परागत भारतीय संस्कार राधिका को "पूर्ण रूप से उसके अतीत सहित" ग्रहण करने में अवरोध खड़ा करते हैं। अत: वह दिल्ली छोड़कर कलकत्ता चला जाता है, एक प्रकार से राधिका को भूला देता है। मनीश भी राधिका को चाहता है, परन्तु विदेशी सभ्यता का आदि होने से उसमें चंचलता और अस्थिरता भी अधिक है। अत: राधिका मनीश के व्यक्तित्व से सम्पूर्णतया प्रभावित होने पर भी उस पर विश्वास नहीं करती, क्यों कि किसी एक के साथ बँधकर रहना उसकी प्रकृति में नहीं है। इसीलिए राधिका मनीश से हमेशा दूरी रखती हैं।

अक्षय के कलकत्ता चले जाने के बाद राधिका भी अपने बड़े भाई के पास लखनऊ आकर रहने लगती है। तभी उससे मिलने के लिए वहाँ मनीश आता है। और तब वह राधिका के सामने स्पष्ट रूप से अपना विवाह प्रस्ताव रखता है। .. "न कुछ मत कहो। मैं चाहता हूँ कि तुम समय लेकर सोचो, राधिका। हम दोनों में एक तथ्य भाव हैं। हमारे सम्बन्धों में एक सहजता। मैं तुम्हें पूर्णरूप से स्वीकार करूँगा, तुम्हारे मूडस, तुम्हारी समस्याओं, तुम्हारे विगत सहित।"[1]

मनीश के जाने के बाद राधिका यह तय नहीं कर पाती कि मनीश का प्रस्ताव स्वीकारें या ठुकराये। राधिका का मन इस दुविधा की स्थिति में अटका रहता है। तभी उसे उसकी विमाता विधा की आत्महत्या का समाचार मिलता है। वह अपने भाई के साथ अपने पिता के पास जाती है। इस बार राधिका के पापा फिर अकेले हो जाते है, और वे चाहते है कि अब पहले की तरह राधिका उनके पास रहें, लेकिन राधिका तब तक जैसे निर्णय कर चुकी है, वह कहती है। -"नही पापा, मैं जाना चाहती हूँ, मनीश मेरे एक बन्धु .."[2]

---

१. "हकोगी नहीं, .. राधिका!" उषा प्रियम्वदा पृ. १३२ अक्षर प्रकाशन, पाँचवा सं. १९८०.

२. वहीं पृष्ठ १३९.

इस उपन्यास में लेखिका ने भारतीय रूढिवादिता और पाश्चात्य सभ्यता के विरोधाभास से उत्पन्न राधिका के मानसिक संघर्ष का यथार्थ चित्रण किया हैं। राधिका न पाश्चात्य परिवेश में अपने को जोड पाती है। और न भारत में चैन पाती हैं। दोनों जगह वह अपने को असंगत और अजनबी पाती हैं। इस अजनबीपन के बारे में कहा गया है कि - "पाश्चात्य संस्कृति की चकाचौंध में अपने अजनबी होने के आतंक बोध से घबराकर पूर्व में पुन: लौट आयी शिक्षिता और स्वतंन्त्र नारी ने एक-दूसरे किस्म के अजनबीपन से साक्षात्कार किया है। यह अजनबीपण पश्चिम की अनुभूति से कहीं अधिक गहरा और सच्चा है।"[1]

इस उपन्यास में प्रियम्वदाजीने पात्रों के मनोविश्लेषण के लिए मनोवैज्ञानिक सिध्दान्तों का आधार रूप में प्रयोग किया है, इस सैध्दान्तिक प्रतिबध्दता से कृति की रचनात्मकता को आघात पहुँचता है। परन्तु लेखिका ने राधिका के चरित्र को जिस सूक्ष्मता और विशिष्टता से चित्रित करने का प्रयास किया है। वह प्रशंसनीय है। - "परम्परागत मूल्यों का अतिक्रमण करने तथा आचरणात्मक रूढ नैतिक विधानों की अस्वीकृति के बाद भी राधिका के चरित्र में ऐसी मोहक गम्भीरता और अभिजात सरलता है जो उसके व्यक्तित्व को आद्यन्त आकर्षक और प्रभावशाली बनाये रहती है। यह लेखिका की विशिष्ट उपलब्धी है।"[2]

लेखिका ने राधिका के माध्यम से आज की नारी की परंपरागत मूल्य आधुनिक मुल्यों के संघर्ष से उत्पन्न द्विधा मनस्थिती तथा उलझनों को अभिव्यक्त किया है। "नारी के बदलते हुए पारिवारिक सामाजिक उत्तरदायित्वों और आर्थिक कठिनाइयों के बीच जूझते हुए व्यक्तित्व को

---

१. "आधुनिकता के संदर्भ में आज का हिन्दी उपन्यास" पृ. २४४, उद्धृत आधुनिक, हिन्दी उपन्यास और अजनबीपन, विद्याशंकरराय पृ. १३५

२. आधुनिक हिन्दी उपन्यास और अजनबीपन, विद्याशंकरराय पृ. १३५. सरस्वती प्रकाशा, प्र.सं. १९८१.

लेखिका ने "राधिका" नाम दिया है, । "राधिका" का ही एक रुप "गुष्मा" है। "पचपन खम्भे लाल दिवारें की होस्टल वार्डन।"[1]

" शेषयात्रा "

"शेषयात्रा उषाजी का अत्याधिक महत्वपूर्ण उपन्यास है। इस उपन्यास की रचना विदेशी पार्श्वभूमि पर की गई है। प्रियम्वदाजी के अन्य दो उपन्यासों के भाँति यह भी एक नायिका प्रधान उपन्यास है। इसमें उन्होंने एक ऐसी नारी का चित्रण किया है, जो पति व्दारा त्याग दिये जाने पर भी टूटती नहीं बल्कि साहस, मेहनत तथा संघर्ष से अपनी दारुण स्थिती को बदलकर एक नयी जिन्दगी बनाने मे कामयाब होती है। प्रियम्वदाजी का यह उपन्यास आज के नारी को उसकी त्रासद स्थिती से उबरने के लिए एक महामंत्र सिध्द होगा।

उपन्यास की नायिका अनुका माता-पिता विहीन होने के कारण उसकी परवरिश उसके ननिहाल में होती है। उसकी ननिहाल का परिवार परंपरागत स्वरुप का होने के कारण अनु के संस्कार भी परंपरागत ही है, जिससे उसका व्यक्तित्व पूर्ण रूपसे विकसित नहीं हो पाता, अत:उसमें आत्मनिर्भरता का अभाव रहता हैं। अपने मामा-मामी के आश्रय में रहते हुए अनु अपनी स्कूल की पढाई समाप्त कर कॉलेज जाने लगती है। तभी अचानक उसका विवाह प्रणव कुमार से हो जाता हैं। प्रणवकुमार अमरीका में डाक्टर हैं। विवाह के पश्चात् अनु अपने पति प्रणव के साथ अमरीका चली जाती है।

अनु और प्रणव के विवाह के प्रारंभिक दिन बहुत ही ऐशोआराम, सुख संपन्नता से गुजरते है। प्रणाव एक सफल डाक्टर है। और वह अपने ग्रुप में हर चीज में आगे रहना चाहता है। इसलिए अनु स्वयं को भी उसके मर्जीनुसार ढालने का प्रयत्न करती है। और कुछ ही दिनों में वह वहाँ के वातावरण में

---

१. "हिन्दी लघु उपन्यास", घनश्याम "मधुप" पृष्ठ १८१ राधाकृष्ण प्रकाशन, १९७१.

घुल मिल जाती है। प्रणव के गुण तथा अनु की सुन्दरता और भोलापन सभी को प्रभावित करता है। इसीकारण मित्र मण्डलियों में ये "गोल्डन कपल" कहकर पुकारे जाते है। अनु को अपनी जिन्दगी बहुत ही अच्छी लगती है। उसे किस बात की कमी नहीं है, पैसा, इज्जत, शोहरत, पति का प्यार सब कुछ उसके पास है।' और वह अपने आप को बहुत सुखी समझती है।

परन्तु कुछ दिनों के बाद प्रणव का परिचय न्यूयार्क के एक टी.वी. स्टेशन के प्रोग्रामों की प्रोडयुसर चन्द्रिका राणा से हो जाता है। उसके व्यक्तित्व के प्रभाव से प्रणव उसकी ओर आकर्षित होता है, उसे अनु के साथ वैवाहिक जिन्दगी बहुत लचर और बेमानी लगने लगती है, इसलिए वह अनु को छोड देना चाहता है। इस घटना से अनु के दिल को गहरा सदमा पहुँचता है, और वह मानसिक दृष्टी से टूट जाती है। परन्तु उसकी सहेली दिव्या उसे धीरज बँधाकर उसकी त्रासद स्थिति से उबरने की प्रेरणा देती हैं। दिव्या काफी समझदार, आत्मनिर्भर और व्यवहार पटू नारी हैं। अनु की स्थिती जानते हुए वह चाहती है कि अगर प्रणव अनु को छोडना चाहता है, तो अनु भी अपने आत्मसम्मान की रक्षा करते हुए, स्वयं स्वतंत्र, आत्मनिर्भर होकर नयी जिन्दगी आरंभ कर दे। वह अनु से कहती है। - "अक्सर हम जिंन्दगी के ऐसे ठिकाने पर आ खडे होते है। कि मालूम नहीं होता, किस तरफ मुडें। इधर भी जा सकते है, उधर भी। हर हालत में तुम्हें अपने को थोडासा तो बदलना होगा। तुम्हें अपने को कुछ तो ढालना ही होगा। अपनी जिन्दगी यों गढनी होगी कि अगर प्रणव आ जायें तो वाह-वाह, न आयें तो भी .."[1]। परन्तु अनु अपने परम्परागत संस्कारों से चिपकी रहने के कारण इस बात को सहजता से ग्रहण नहीं करती, उसे यह आशा लगी रहती है, कि आखिर प्रणव उसके [illegible]

---

१. "शेषयात्रा", उषा प्रियम्वदा पृष्ठ ७६.
राजकमल प्रकाशन प्र. सं. १९८४.

पास आयेगा और फिर सभी पूर्ववत हो जायेगा। लेकिन जब उसके पास प्रणव के तलाक का सम्मन आता है। तो उसकी सारी आशाओं पर पानी फेर जाता है।

प्रणव से तलाक लेनेपर अनु अपनी नयी जिन्दगी का बुनना आरंभ करती है। वह अपनी अधुरी शिक्षा पुरी करने के लिए बोस्टन चली जाती है। और वहीं एक मेडिकल कॉलेज में प्रवेश लेकर पढाई शुरु करती है। कडी मेहनत और परिश्रम कर वह डाक्टर बन जाती है। और दिव्या के भाई दीपांकर के साथ पुन: विवाह करती है। विवाह के पश्चात् कुछ ही दिनों में वह एक बच्ची को भी जन्म देती है। उसका जीवन अब सुख से परिपूर्ण हो जाता है। करिअर-बच्चा-समझदार पति उसके पास सबकुछ है। और अपने इस सुख की तृप्ति में वह अपने अतीत की कडवाहट भूल जाती है।

उधर अनु से सम्बन्ध विच्छेद कर लेने के पश्चात् कुछ ही दिनों में प्रणव के चन्द्रिका के साथ होनेवाले सम्बन्ध भी समाप्त हो जाते है। अत: वह अकेला हह स्वतंत्र रूप से जीने लगता है। इस बीच प्रणव शारिरीक और मानसिक रूप से काफी टूट जाता है। उसे हार्ट ट्रबल होने लगता है, उसके दो बायपास ऑपरेशन भी होते है। प्रणव स्वयं डॉक्टर होनेसे अपनी जिन्दगी की अनिश्चितता को जानता है। अपने अंतिम दिनों में वह एक बार अनु से मिलकर वह अपने दिले को तसल्ली देना चाहता है। इसलिए वह अपने छाती की जाँच कराने के बहाने बोस्टन चला आता है। और अनु को मिलता है। कई वर्षों बाद अनु से मिलनेपर उसमें आये आमुलाग्र परिवर्तन को देखकर प्रणव विस्मित हो जाता है। अनु की सफलता को प्रणव प्रसन्न होता है। अनु के प्रति उसके मन में होनेवाली अपराध भावना और लज्जा को अलग कर स्वयं को वह हल्का हल्का और भारमुक्त महसूस करता है। परन्तु अनु के पुर्नविवाह की बात सुनकर उसके अहं तथा पतिभाव को चोट लगती है। बातों ही बातों में जब जिन्दगी की कीमत चुकाने की बात

होती है, तब प्रणय उसे अपने छाती के दाँग दिखाता है। जिसे देखकर अनु को उसने झेले दर्द का एहसास होता है। और वह अत्यंत भावुक हो उठती है। उसके मन में प्रणव के प्रति वही पुराना प्यार उमड आता है। अपने सामने रोगग्रस्त, जर्जर और टूटे हुए प्रणव को पाकर उससे लिपट जाना चाहती है। तभी अनु का दूसरा मन उसे अपनी वर्तमान स्थिती - कैरियर तथा जिम्मेदारीयां का ज्ञान कराता है। और वह अपनी उमडती भावनाओं पर काबू कर लेती है। प्रणव से दूसरे दिन मिलने का वादा कर वह अस्पताल से लौट जाती है। परन्तु अनु यह जानती है। कि दूबारा प्रणव से मिलने पर वह अपनी भावनाओं को संयमित नहीं कर पायेगी, इसलिए वह दूसरे दिन अपने पति दिपांकर के साथ कहीं बाहर जाने का निश्चय करती है। इधर प्रणव भी यह सोचकर भी अब अनु से मिलने में कोई तुक नही, अपना टेस्ट कैंसल करवा कर सुबह ही वापस चला जाता है।

इस उपन्यास में लेखिका ने नायिका अनुका के माध्यम से भारतीय नारी को अपने परंपरागत सामाजिक बंधनों से मुक्त होकर स्वतंत्र, आत्मनिर्भर बनकर स्वाभिमान के साथ जीने का संदेश दिया है। उपन्यास में अनु की भाव भावनाओं के अन्तर्द्वन्द्व का चित्रण मार्मिक बन पडा है। साथ ही इसमें स्त्री पुरुष सम्बन्धों के संदर्भ में परंपरागत भारतीय और पाश्चात्य मुल्यों का संघर्ष भी दिखाया गया है। लेखिका ने इस उपन्यास की रचना विदेशी पृष्ठभूमिपर की है। अत: उच्च मध्यवर्गिय प्रवासी भारतीय समाज इसमें अपने तमाम अन्तर्विरोधो, व्यामोहो और कुंठाओं सहित मौजुद है।

" जिन्दगी और गुलाब के फूल "

सुश्री उषा प्रियम्वदा का यह महत्वपूर्ण कहानी संग्रह हैं। जिसमें पैरम्बुलेटर, मोहबन्ध, जाल, छुट्टी का दिन, कच्चे धागे, पूर्ति, कटीली छाँह, दो अँधेरे, चाँद चलता रहा, दृष्टि दोष, वापसी, जिन्दगी और

गुलाब के फूल आदि बारह कहानियाँ संकलित हैं।

व्यक्ति अपने जीवन को सुखी बनाने के लिए अनेक कल्पनाएँ करता हैं, जो गुलाब के फूल की भाँति सुन्दर और सरस होती हैं, "किन्तु प्राय: जीवन के यथार्थ की कठोर शिला से टकराकर वे चुरचुर हो जाती हैं और व्यक्ति पीडा से सिसकर रह जाता है।" इस संग्रह की कहानियाँ में कल्पना पर यथार्थ की इसी विजय को दिखाया गया है।। जैसे "पैरेम्बुलेटर" कहानी की नायिका कालिन्दी अपने भावी शिशु के लिए सुन्दर पैरेम्बुलेटर को उमंग सहित खरीदती हैं किन्तु उसकी यह आकांक्षा पूरी नहीं हो पाती, क्यों कि शिशु का जन्म होने पर धनाभाव के कारण उसकी दवाईयाँ आदि के लिए उसे पैरेम्बुलेटर को बेचना पडता हैं। "मोहबन्ध" की अचला, "कच्चे धागे" में कुंतल, "दो अँधेरे" की सुमित्रा, "दृष्टि दोष" में मधुर आदि पात्र प्रेम की सफलता के मधुर स्वप्न देखते हैं, किन्तु प्रेमी अथवा प्रेमिका की अनिच्छा अथवा अपनी विवशताओं के कारण उनकी आकांक्षाएँ पूरी नहीं हो पाती। "जाल", "कँटीली छाँह", में भी पात्रों की असफल कल्पनाओं और तज्जनित कुंठाओं के चित्र अंकित किये गये हैं। उषाजी की सर्वाधिक चर्चित कहानी "वापसी" का यही मूल स्वर हैं। पूरी कहानी कथानायक गजाधरबाबू नामक रिटायर्ड अफसर के अपने भरे-पूरे परिवार में उमंग से आने लेकिन वहाँ अपने असंगत और अजनबी होने के एहसास के कारण निराश हो वापस लौटने की कहानी है। "छुट्टी का दिन", "पुर्ति" तथा "चाँद चलता रहा" आदि कहानियाँ इस विषय से भिन्न है। "छुट्टी का दिन" कहानी में लेखिका ने नायिका माया के दिनचर्या के द्वारा नौकरी के कारण अपने परिवार से दूर रहनेवाली युवती के अकेलेपन और निरुद्देश्य भटकन का चित्रण किया है। तथा "पुर्ति" और "चाँद चलता रहा" कहानियों में यह बताया गया है कि जीवन में होनेवाले कुछ आकस्मिक संयोग, व्यक्ति की जीवन दशा को आमूल परिवर्तित कर देते है।

8793

प्रियम्वदाजी ने अपनी कहानियों में स्वतंत्रता-प्राप्ति के बाद नारी जीवन में आये परिवर्तनों तथा वर्तमान नारी की समस्याओं को विशेष आग्रह से चित्रित किया है। आज की भारतीय नारी प्राचीन नारी की भाँति त्याग अथवा तप का जीवन व्यतीत न करके व्यक्तिगत स्वतंत्रता की सर्वाधिक आकांक्षा रखती है। इसीलिए "छुट्टी का दिन" की माया, "पूर्ति" की तारा और "दो अँधेरे" की सुमित्रा आर्थिक दृष्टि से आत्मनिर्भर बन कर यह मानती है कि अब उन्हें किसी पुरुष के आश्रम में रहने की आवश्यकता नहीं रही। परन्तु उस स्थिति में भी प्रसन्न नहीं है, वह अपने मन में रिक्तता और एकरसता का अनुभव करती है, दूसरी ओर विवाहित नारियाँ की स्थिति भी कुछ ऐसी ही है। "दो अँधेरे" की कोशल्या और "दृष्टि दोष" की चन्द्रा विवाह करके भी इसलिए प्रसन्न नहीं रह पाती कि पुरुष के सुख के लिए अपनी इच्छाओं का बलिदान उनके मन में क्षोभ, कुंठा, खीझ और हीन भावना को जन्म देता है। "वस्तुत: नारी स्वातंत्र्य की दुहाई देकर वर्तमान युग ने नारी के साथ अन्याय ही किया है। पहले वह अपने आदर्शों की छाया में प्रत्येक स्थिति में सन्तुष्ट रहती थी, और अपने उदात्त गुणों द्वारा श्रध्दा की पात्रा थी, किन्तु अब कोई भी स्थिति उसे अनुकूल प्रतीत नही होती।"[१] आज की नारी "पति" के सुख की अपेक्षा अपने सुख को अधिक महत्व देती है, "कंटीली छाँह" में इन्द्रा और "वापसी" में गजाधर बाबू की पत्नी द्वारा लेखिका ने इस बात को दिखाया है। अत: हम कह सकते हैं कि उषा-प्रियम्वदाजी के इस संग्रह की कहानियों में युग की समस्याओं, सम्भावनाओं और आकांक्षाओं की मुखर अभिव्यक्ति रही हैं।

---

१. स्वातंत्र्योत्तर कथा - लेखिकाएँ, उर्मिला गुप्ता पृ. १५६ राधाकृष्ण प्रकाशन १९६७.

"एक कोई दूसरा"

यह उषा प्रियम्वदाजी का तीसरा कहानी संग्रह हैं। इस संग्रह में "एक कोई दूसरा" झुठा दर्पण, कोई नहीं, सागर पार का संगीत, पिघलती हुई बर्फ चाँदनी मे बर्फ पर, टूटे हुए, आदि सात कहानियाँ हैं।

इस संग्रह की प्राय: सभी कहानियाँ का विषय प्रमुख रुप से स्त्री-पुरुष सम्बनधों के बहुविध आयामों तथा प्रेम के विभिन्न पक्षों से सम्बन्धित है। संग्रह की प्रारंम्भिक तीन कहानियाँ - एक कोई दूसरा, झुठा दर्पण, कोई नहीं - की पार्श्वभूमि भारतीय है। अत: उसमें एक आदर्शवाद दृष्टिगोचर होता हैं। "एक कोई दूसरा" कहानी में गुरु और शिष्या के बीच होनेवाले अनाम सम्बन्धों द्वारा प्रेम के उच्चतम् रुप का दिग्दर्शन कराया हैं, तो "झुठा दर्पण" कहानी में नायिका अमृता के मन में प्रेम और विवाह के प्रति होनेवाली गलतफहमी तथा उलझन दिखाकर अंत में यथार्थ के धरातल पर उसका सुझाव देकर विवाह का समर्थन किया हैं। "कोई नहीं" कहानी में प्रेम के असफल हो जाने के कारण नायिका नामिता के नीरस एकाकी जीवन का चित्रण किया हैं।

इस संग्रह की अन्य कहानियों की रचना विदेशी पार्श्वभूमि पर की गई हैं, जो भारतीय मन और विदेशी परिस्थितीयों का द्वंव्द सामने-सामने रखती हैं। "सागर पार का संगीत" तथा "चांदनी में बर्फ पर" कहानियों में अंतरराष्ट्रीय प्रेमविवाह तथा उसकी दु:खद परिणाति को दिखाया है। "पिघलती हुई बर्फ" में असफल प्रेम से उत्पन्न घोर निराशा, ईर्ष्या, द्वेष के आवेश में किये गये अपराध की पीडा और पश्चाताप की भावना का अंकन किया हैं। "टूटे हुएँ कहानी में एबनार्मल पुत्र के जन्म की घटना से टूटे हुए दम्पत्ति की मानसिक दशा का चित्रण किया हैं।

वर्तमान युग की व्यक्तिवादी विचारधारा के परिणाम स्वरूप व्यक्ति अकेलेपन, उब, कुंठा आदि का शिकार बन गया है। प्रियम्वदाजी ने अपनी कहानियों में व्यक्ति की इन्हीं भावनाओं का अत्याधिक चित्रण किया हैं। विदेशी पृष्टभूमि में व्यक्ति की यह भावना और अधिक मुखर हो जाती है। "सागर पार का संगीत" में देवयानी, "पिघलती हुई बर्फ" में अक्षय, "चांदनी में बर्फ पर" में हेमन्त तथा "टूटे हुऐ" में भास्कर इसी अजनबीपन तथा एकाकीपन का अनुभव करते है। "सागर पार का संगीत" कहानी की नायिका देवयानी में एकाकीपन की भावना इतनी तीव्र होती है कि उससे मुक्ति पाने के लिए वह आत्महत्या करने को उद्यत होती है।

प्रियम्वदाजी ने इस कहानी संग्रह में आधुनिक जीवन की बदलती मान्यताओं का सार्थकता से चित्रण किया हैं।

कितना बडा झूठ

उषा प्रियम्वदाजी के इस कहानी संग्रह में - सम्बन्ध, प्रतिध्वनियाँ, कितना बडा झूठ, द्विप, नींद, सुरंग, स्वीकृति, मछलियाँ - आदि आठ कहानियों को स्थान मिला हैं। इस संग्रह की अधिकांशा कहानियाँ अमरीकी तथा यूरोपीय परिवेश में लिखी गयी है। और जिन कहानियों का परिवेश भारतीय हैं उनमें भी प्रमुख पात्र जो प्राय: नारी हैं, का सम्बन्ध किसीन किसी रुप में यूरोप अथवा अमरीका से रहता हैं - इस तथ्य के कारण इस संग्रह की कहानियों में आधुनिकता का स्वर अधिक प्रबल हैं।

पाश्चात्य सभ्यता के प्रभाव के कारण दाम्पत्य जीवन में आये बिखराव, स्त्री-पुरुष सम्बन्धों के विविध रूप, बदलते जीवन मूल्यों के फलस्वरूप टूटते परिवार आदि विषयों को प्रियम्वदाजीने कथा रूप दिया है।

संग्रह की - प्रतिध्वनियाँ, ट्रिप, स्वीकृति तथा कितना बडा झूठ आदि चार कहानियाँ दाम्पत्य जीवन से सम्बन्धित है, जिसमें विशेषता पत्नियाँ अपने दाम्पत्यगत जीवन से असंतुष्ट है। अत:प्रत्येक पत्नी को अपने पति से कोई न कोई शिकायत है, जैसे "प्रतिध्वनियाँ" कहानी में नायिका वसू को अपने पति के अत्याधिक प्यार से शिकायत है, तो "ट्रिप" कहानी की नायिका को पति से रोमांस के कमी की शिकायत है, "स्वीकृति" कहानी की जया पति के व्दारा उसकी भावनाओं और इच्छाओं को ख्याल न रखने से नाराज है। अत:वह अपनी इच्छाओं की पूर्ति के लिए अयेय आचरण करती है। "कितना बडा झूठ" इस विषय से अपवाद है, इसमें कहानी की नायिका किरन को अपने पति से किसी भी प्रकार की शिकायत नहीं है, फिर भी वह शारीरिक तुष्टिके लिऐ मैक्स से विवाह बाह्य सम्बन्ध रखती है।

संग्रह की अन्य कहानियाँ "नींद" तथा "सुरंग" में वर्तमान जीवन के अकेलेपन तथा अजनबीपन के अत्याधिक एहसास के परिणाम स्वरूप व्यक्ति के मन में उत्पन्न भय तथा उससे मुक्ति पाने की छटपटाहट को चित्रीत किया है। "मछलियाँ" कहानी में प्रेम की असफलता से उत्पन्न इर्षा, व्देष आदि भावनाओं का अंकन किया है।

इस संग्रह की कहानियों में पश्चिमी सभ्यता और संस्कृति के प्रभाव से भारतीय नारी का वैचारिक रूपांतरण सहजता से दिखाई देता हैं। कहीं यह हाशिया के "ट्रिप" [ट्रिप] और पाईप पीकर "हाई" होती हैं, कभी वह अपने पुरातन विचारों को "फ्रिज" करने की प्रक्रिया में है, कि "कुछ न सोचो", पीछे मुडकर न देखो [सुरंग], कहीं यह नारी भारतीय

पति और अमरीकी प्रेमी के बीच बंटी हुई मानसिकता में रहती हैं [स्वीकृति], कहीं यह भारतीय प्रेमियों में प्रेम के साथ साथ जीवन जीने की समस्त सुविधाएँ जुटाने की क्षमतावाले प्रेमी पर नजर रखती हैं। [मछलियाँ] इसप्रकार इन कहानियों की नारी नेउवैचारिक और जीवन पध्दति के स्तर पर अपने को विदेशी परिवेश में पूर्ण ढाल भी नहीं लिया है, तो किसी न किसी सीमा तक अपने अनुरूप बना लिया है। इसप्रकार प्रियम्वदाजी की नारियाँ विदेशी परिवेश में भारतीय नारी के जागृत व्यक्तित्व को प्रस्तुत करती है।

उषा प्रियम्वदाजी के समूचे साहित्य को देखने के पश्चात् यह निष्कर्ष निकाला जा सकता हैं, कि "उषा प्रियम्वदा के चरित्र स्वाभाविक आकांक्षाओं और आवश्यकताओं वाले लोग हैं। रोज के आर्थिक और आपसी सम्बन्धों के बीच वे जीवन को लेकर कोई बुनियाद सवाल नहीं उठाते। वे ज्यादातर "टाइप" चरित्रों और परिस्थितियों के व्दारा एक विशेष संवेदना को प्रसार-सा देती लगती हैं।"[१]

इसप्रकार प्रियम्वदाजी के कथात्मक साहित्य के संक्षिप्त परिचय से समाज के विभिन्न रूप और विभिन्न समस्याओं की झलक मिलती है। जिसका विस्तार से वर्णन अगले अध्यायों में किया गया है।

---

१. "विवेक के रंग" देवीशंकर अवस्थी पृ. ३७९.
भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन, प्र.सं. १९६५.